विवेक–ज्योति

वर्ष ४४ अंक २ फरवरी २००६ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
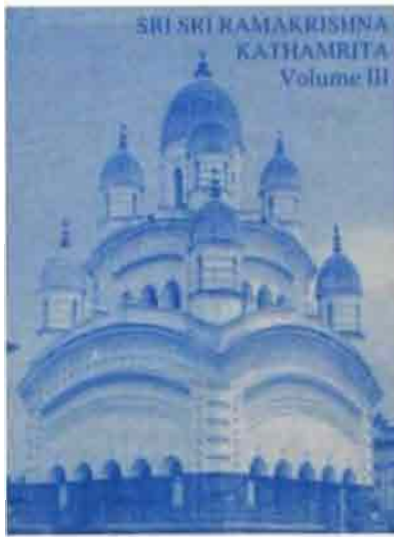
JUST RELEASED

VOLUME III
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the third volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** Vol. I to V Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

  In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. **This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.**

ENGLISH SECTION

- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Vol. I to III Rs. 450.00 for all three volumes (plus postage Rs. 60)
- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
  (English version of Sri Ma Darshan)
- Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
- A Short Life of M. Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २००६

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४४
अंक २

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०७७१ - २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनि-आर्डर** से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

सौर ऊर्जा

वैराग्य-शतकम्

विद्या नाधिगता कलङ्करहिता वित्तं च नोपार्जितं
शुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पादिता ।
आलोलायतलोचनाः प्रियतमाः स्वप्नेऽपि नालिङ्गिता
कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेर्यते ।।४७।।

अन्वय – कलङ्करहिता विद्या न अधिगता, वित्तं च न उपार्जितम्, समाहितेन मनसा पित्रोः शुश्रूषा अपि न सम्पादिता । स्वप्ने अपि आलोल-आयत-लोचनाः प्रियतमाः न आलिङ्गिता, अयं कालः काकैः इव पर-पिण्ड-लोलुपतया प्रेर्यते ।।

भावार्थ – हमने दोषरहित मोक्षदायिनी शास्त्रविद्या को आयत्त नहीं किया, धन का भी उपार्जन नहीं किया, संयमित चित्त से माता-पिता की सेवा भी नहीं सम्पन्न की और सपने में भी चंचल तथा कानों तक फैले विशाल नेत्रोंवाली प्रियतमा का आलिंगन नहीं किया, हमारी यह जाती हुई आयु कौए के समान दूसरों के द्वारा दिये हुए अन्न की लालसा में ही बीत रही है ।

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते,
समं यैः संवृद्धाः स्मृति-विषयतां तेऽपि गमिता।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिल-नदीतीरतरुभिः।।४८।।

अन्वय – वयं येभ्यः जाताः ते खलु एव चिर-परिगता, यैः समं संवृद्धाः ते अपि स्मृति-विषयतां गमिता, इदानीम् प्रति-दिवसम् आसन्न-पतना एते सिकतिल-नदी-तीर-तरुभिः तुल्य-अवस्थां गताः स्मः ।।

भावार्थ – जिन माता-पिता से हमारा जन्म हुआ, वे कबके काल के गाल में समा चुके हैं। जिन सगे-सम्बन्धियों, मित्रों तथा परिचितों के साथ हम बड़े हुए, वे भी परलोकगत होकर बस स्मृतियों के झरोखे में ही रह गये हैं। हम भी तो अब वृद्ध होकर नदी तट पर खड़े वृक्ष के समान प्रतिदिन गिरने की राह देख रहे हैं।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(वैरागी या जोगिया–कहरवा)

(मैं) शरण तुम्हारी आया, रामकृष्ण भगवान ।
स्वीकारो चरणों में, करो परम कल्याण ।।

अँधियारे जीवन में आओ, बाँह पकड़कर राह दिखाओ ।
और न कोई जग में मेरा, रहे सदा यह ध्यान ।। रामकृष्ण.।।

विषयों से नाता तोड़ूँगा, अब न कभी तुमको छोड़ूँगा ।
तुम ही हो अवलम्ब जगत में,
तुम ही मेरे प्राण ।। रामकृष्ण.।।

फिर न कभी माया में अटकूँ, मरु-मरीचिका में ना भटकूँ ।
अन्तर को आलोकित कर दो,
हर 'विदेह' अज्ञान ।। रामकृष्ण.।।

– २ –

(मधुवन्ती–कहरवा)

श्रीरामकृष्ण चरणं शरणम् ।
युग के ईश्वर जग-उद्धारक,
कलि-दोष दुःख-पीड़ा हरणम् ।।

अति दुर्गम है यह भवसागर, जीवन नौका है अति नश्वर ।
द्रुत पार उतर, अब देर न कर,
अन्यथा सुनिश्चित है मरणम् ।।

वे निर्गुण हैं साकार हुए, हल्के सब के भू-भार हुए ।
जन-जन के बन्धन छिन्नप्राय,
सत्वर करने को उद्धरणम् ।।

वे मधुमय सुख के आगर हैं, वे अनुकम्पा के सागर हैं ।
वे कभी न छोड़ेंगे तुझको,
कर ध्यान सदा उनके चरणम् ।।

जब आयेंगे वे जीवन-धन,
आलोकित होगा अन्तर-मन ।
कृतकृत्य करेंगे वे 'विदेह',
सच्चिदानन्द करुणा-करणम् ।।

– *विदेह*

आम जनता की शिक्षा (१)

स्वामी विवेकानन्द

सामाजिक अत्याचार

न्यूयार्क के समुद्र तट पर खड़ा मैं देखा करता था – भिन्न-भिन्न देशों से लोग बसने के लिए अमेरिका आ रहे हैं। उन्हें देखकर मुझे लगता, मानो उनका हृदय झुलस गया है, वे पैरों तले कुचले गये हैं, उनकी आशा मुरझा गयी है, उनमें किसी से निगाहें मिलाने की हिम्मत नहीं है, कपड़ों की एक पोटली मात्र उनका सर्वस्व है और वे कपड़े भी फटे हुए हैं, पुलिस का आदमी देखते ही भय से दूसरी ओर के फुटपाथ पर चलने का प्रयास करते हैं। और फिर छह महीने में ही देखो, तो वे साफ कपड़े पहने हुए सिर उठाकर सीधे चल रहे हैं और डटकर लोगों की नजर से नजर मिलाते हैं। ऐसा विचित्र परिवर्तन किसने किया? सोचो, वह आदमी अर्मेनिया या किसी अन्य जगह से आ रहा है, वहाँ कोई उसे कुछ समझते नहीं थे; सभी पीस डालने की चेष्टा करते थे। वहाँ सभी उससे कहते थे – "तू गुलाम होकर पैदा हुआ है, गुलाम ही रहेगा।" वहाँ उसके जरा भी हिलने-डुलने की चेष्टा करने पर वह कुचल डाला जाता था। चारों ओर की सभी वस्तुएँ मानो उससे कहती थीं – "गुलाम, तू गुलाम है – जो कुछ है, तू वही बना रह; निराशा के जिस अँधेरे में पैदा हुआ था, उसी में जीवन भर पड़ा रहा।" हवा भी मानो गूँजकर उससे कहती थी – "तेरे लिए कोई आशा नहीं – गुलाम होकर तू चिर काल नैराश्य के अन्धकार में पड़ा रह।" वहाँ बलवानों ने पीसकर उसकी जान निकाल ली थी।

और ज्योंही वह जहाज से उतरकर न्यूयार्क के रास्तों पर चलने लगा, उसने देखा कि अच्छे कपड़े पहने हुए किसी भले आदमी ने उससे हाथ मिलाया। एक तो फटे कपड़े पहने हुए था और दूसरा अच्छे-अच्छे कपड़ों से सुसज्ज था। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा। और कुछ आगे बढ़कर भोजनालय में जाकर उसने देखा – भद्रमण्डली मेज के चारों ओर बैठी भोजन कर रही थी; उसी मेज के एक ओर उससे भी बैठने के लिए कहा गया। वह चारों ओर घूमने लगा – देखा, यह एक नया जीवन है। उसने देखा, ऐसी जगह भी है, जहाँ अन्य पाँच आदमियों में वह भी एक आदमी गिना जा रहा है। कभी मौका मिला तो वाशिंग्टन जाकर संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति से हाथ मिला आया; वहाँ उसने देखा, दूर के गाँवों से मैले कपड़े पहने हुए किसान आकर राष्ट्रपति से हाथ मिला रहे हैं। तब उसके आँख से माया का पर्दा दूर हो गया। वह ब्रह्म ही था – मायावश इस तरह दुर्बलता तथा दासता के सम्मोह में पड़ा हुआ था।[३०५]

यह सब देखकर जब मैंने अपने देश की दशा सोची, तो मेरे प्राण बेचैन हो गये। भारतवर्ष में हम लोग गरीबों और पतितों के लिये क्या कोई सोचता है! उनके लिए न कोई अवसर है, न बचने की राह और न उन्नति के लिए कोई मार्ग ही है। भारत के निर्धनों और पतितों का कोई साथी नहीं, कोई सहायता देनेवाला नहीं – वे चाहे कितनी भी कोशिश क्यों न करें, उनकी उन्नति का कोई उपाय नहीं। वे दिन-पर-दिन डूबते जा रहे है। क्रूर समाज उन पर जो लगातार चोटें कर रहा है, उसका अनुभव तो वे खूब कर रहें हैं, पर वे नहीं जानते कि ये चोटें कहाँ से आ रही हैं। वे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। और इसका फल है गुलामी।[३०६]

हमारे इस देश में, वेदान्त की जन्मभूमि में हमारी आम जनता को हजारों वर्षो से सम्मोहित करके ऐसी हीन दशा में डाल दिया गया है। उनके स्पर्श में अपवित्रता समायी है, उनके साथ बैठने से छूत लग जाता है। उनसे कहा जाता है – निराशा के अँधेरे में तुम्हारा जन्म हुआ है और सदा इसी अँधेरे में पड़े रहो। इसका फल यह हुआ कि वे सतत डूबते चले जा रहे हैं, अँधेरे से और भी गहरे अँधेरे में डूबते चले जा रहे हैं। अन्ततः निकृष्टतम दशा में पहुँच चुके हैं। ऐसा देश कहाँ है, जहाँ मनुष्यों को जानवरों के साथ एक ही जगह पर सोना पड़ता हो?[३०७] जिस देश में करोड़ों लोग महुआ खाकर दिन गुजारते हैं और दस-बीस लाख साधु तथा दस-बारह करोड़ ब्राह्मण उन गरीबों का खून चूसकर पीते हैं और उनकी उन्नति के लिए कोई चेष्टा नहीं करते, वह देश है या नरक? वह धर्म है या पिशाच का नृत्य? भाई, इस बात को ठीक से समझो – मैं भारत को घूम-घूमकर देख चुका हूँ और इस देश को भी देख रहा हूँ। क्या बिना कारण के कहीं कोई कार्य होता है? क्या बिना पाप के कहीं सजा मिल सकती है?

सर्वशास्त्रपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारस्तु पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

– 'सब शास्त्रों और पुराणों में व्यास के ये दो बातें हैं – परोपकार से पुण्य होता है और परपीड़ा से पाप।' क्या यह

सच नहीं है? भाई, यह सब देखकर – खासकर देश की निर्धनता और अज्ञता को देखकर – मुझे नींद नहीं आती।[३०८]

हमारे देश में यदि कोई निम्न जाति में जन्म लेता है, तो वह हमेशा के लिए गया-बीता समझा जाता है; उसके लिए कोई आशा-भरोसा नहीं। यह भी क्या कम अत्याचार है! इस देश (अमेरिका) में हर व्यक्ति के लिए आशा है, भरोसा है और सुविधाएँ हैं। आज जो गरीब है, वह कल धनी हो सकता है, विद्वान् और लोकमान्य बन सकता है। यहाँ सभी गरीब की सहायता करने को व्यस्त रहते हैं। भारतवासियों की औसत मासिक आय २ रुपये हैं। यह रोना-धोना मचा है कि हम बड़े गरीब हैं, परन्तु गरीबों की सहायता के लिए कितनी दानशील संस्थाएँ हैं? भारत के करोड़ों अनाथों के लिए कितने लोग रोते हैं? हे भगवान! क्या हम मनुष्य हैं? तुम लोगों के घरों के चारों ओर पशुवत् जो भंगी-डोम हैं, उनकी उन्नति के लिए क्या कर रहे हो? उनके मुख में एक ग्रास अन्न देने के लिए क्या करते हो? बताओ न! उन्हें छूते भी नहीं और उन्हें 'दुर', 'दुर' कहकर भगा देते हो! क्या हम मनुष्य हैं? वे हजारों साधु-ब्राह्मण – भारत की दलित, पतित, निर्धन जनता के लिए क्या कर रहे हैं?[३०९]

जो लोग हमारे राष्ट्र की रीढ़ हैं, जिनके परिश्रम से अन्न पैदा हो रहा है, जिन मेहतर-डोमों के, एक दिन के लिए भी, काम बन्द करने पर शहर भर में हाहाकार मच जाता है, क्यों न हम उनके प्रति सहानुभूति रखें, सुख-दुख में उन्हें सांत्वना दें! क्या इस देश में कोई भी नहीं है! यह देखो न – हिन्दुओं की सहानुभूति न पाकर दक्षिण प्रान्त में हजारों पैरिया ईसाई बने जा रहे हैं। ऐसा न समझना कि वे केवल पेट के लिए ईसाई बनते हैं। असल में हमारी सहानुभूति न पाने के कारण वे ईसाई बनते हैं। हम दिन-रात उनसे केवल यही कहते रहे हैं – 'छूओ मत, छूओ मत। ... इच्छा होती है – तेरे छूआछूत-पन्थ की सीमा को तोड़कर अभी चला आऊँ – 'जहाँ कहीं भी पतित, गरीब, दीन, दरिद्र हो, आ जाओ' – यह कह-कहकर, उन सभी को श्रीरामकृष्ण के नाम पर बुला लाऊँ। इन लोगों के बिना उठे, माँ नहीं जागेंगी। हम यदि इनके लिए अन्न-वस्त्र की सुविधा न कर सके, तो फिर हमने क्या किया? हाय! ये लोग दुनियादारी जरा भी नहीं जानते, इसीलिए तो दिन-रात परिश्रम करके भी अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध नहीं कर पाते। आओ, हम सब मिलकर इनकी आँखें खोल दें – मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ कि इनके और मेरे भीतर एक ही ब्रह्म – एक ही शक्ति विद्यमान है, केवल विकास की न्यूनाधिकता है। सभी अंगों में रक्त का संचार हुए बिना किसी देश को कभी उठते देखा है? इस बात को निश्चित जान लेना कि एक अंग के दुर्बल हो जाने पर, दूसरे अंग के सबल होने से भी उस देह से कोई बड़ा काम नहीं होता।''[३१०]

इसमें दोष धर्म का नहीं है। इसके विपरीत तुम्हारा धर्म तो तुम्हें यही सिखाता है कि दुनिया भर के सब प्राणी तुम्हारी ही आत्मा के विविध रूप हैं। समाज की इस हीन दशा का कारण है, इस तत्त्व को व्यावहारिक आचरण में लाने का अभाव, सहानुभूति का अभाव – हृदय का अभाव।[३११]

हमारे किसी महापुरुष के गुजर जाने पर उसकी स्थानपूर्ति के लिए हमें सैकड़ों वर्ष बैठे रहना पड़ता है और ये (पाश्चात्य लोग) उनका सर्जन उसी अनुपात में कर सकते हैं, ... क्योंकि महापुरुषों के चुनाव के लिए उनके पास बहुत बड़ा क्षेत्र है, जबकि हमारे पास, बहुत ही छोटा। तीन-चार, या छह करोड़ के राष्ट्रों की तुलना में तीस करोड़ के राष्ट्र के पास अपने महापुरुषों के चुनाव के लिए क्षेत्र सबसे छोटा है।

जो लोग कहते हैं कि अशिक्षित या गरीब लोगों को स्वाधीनता देने से अर्थात् उन्हें अपने शरीर तथा धन आदि पर पूरा अधिकार देने और उनके वंशजों को धनी तथा ऊँचे दर्जे के लोगों के वंशजों की भाँति ज्ञान प्राप्त करने एवं अपनी दशा सुधारने में समान सुविधा देने से वे उच्छृंखल बन जायेंगे, तो क्या वे समाज की भलाई के लिये ऐसा कहते हैं या स्वार्थ से अन्धे होकर? इंग्लैंड में भी मैंने यही बात सुनी कि यदि निम्न श्रेणी के लोग लिखना-पढ़ना सीख जायेंगे, तो फिर हमारी नौकरी कौन करेगा? मुट्ठी भर अमीरों के विलास के लिये करोड़ों नर-नारी अज्ञानता के अन्धकार और अभाव के नरक में पड़े रहें! क्योंकि उन्हें धन मिलने या उनके विद्या सीखने पर समाज उच्छृंखल हो जायेगा!! समाज कौन है? वे लोग जिनकी संख्या करोड़ों में है? या तुम और मुझ जैसे दस-बीस उच्च श्रेणीवाले?[३१२]

जातिभेद

कर्मवाद मानव-स्वाधीनता की एक चिर घोषणा है। यदि हम अपने कर्म से स्वयं को नीचे गिरा सकते हैं, तो निश्चय ही हम कर्म के द्वारा ही अपने को ऊँचा भी उठा सकते हैं। फिर जनता ने केवल अपने कर्म से ही अपने को नीचे नहीं गिराया है। इसलिए हमें उन्हें अपनी उन्नति के लिए अधिक सुविधाएँ देनी चाहिए। मैं जातियों को मिटाने की बात बिल्कुल भी नहीं कहता। जातिप्रथा बड़ी अच्छी व्यवस्था है। जाति वह योजना है, जिसके अनुसार हम चलना चाहते हैं। जाति वस्तुत: क्या है, यह लाखों में कोई एक भी नहीं समझता। संसार में एक भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ जाति-भेद न हो। पर भारत में हम जाति के द्वारा ऐसी स्थिति में पहुँचते हैं, जहाँ जाति नहीं रह जाती। जाति-प्रथा सदा इसी सिद्धान्त पर आधारित है। भारत में योजना है कि हर व्यक्ति को ब्राह्मण बनाया जाय; ब्राह्मण मानवता का आदर्श है। यदि आप भारत का इतिहास पढ़ेंगे, तो पायेंगे कि सदा निम्न वर्गों को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया गया है। बहुत से वर्ग हैं,

जो उठाये गये हैं और भी अधिक उठाये जायेंगे । ... हमें उन्हें ऊपर ही उठाना है, किसी को नीचे नहीं गिराना है । ... जाति -व्यवस्था का नाश नहीं होना चाहिए; केवल उसे बीच-बीच में परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जाना चाहिए। हमारी पुरानी व्यवस्था के भीतर इतनी जीवनी-शक्ति है कि उससे दो लाख नयी व्यवस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है ।[३१३]

रजोगुण की आवश्यकता

तुम्हारे देश के लोगों का खून मानो हृदय में जम गया है – नसों में मानो रक्त का संचार ही रुक गया है । सर्वांग मानो पक्षाघात के कारण शिथिल हो गया है । इसीलिए मैं रजोगुण बढ़ाकर कर्मतत्परता के द्वारा इस देश के लोगों को पहले इहलौकिक जीवन-संग्राम के लिए सक्षम बनाना चाहता हूँ। देह में शक्ति नहीं, हृदय में उत्साह नहीं, मस्तिष्क में प्रतिभा नहीं। क्या होगा इन जड़-पिण्डों से? मैं हिला-डुलाकर इनमें स्पन्दन लाना चाहता हूँ, इसलिए मैंने आजन्म संकल्प लिया है कि वेदान्त के अमोघ मंत्र के बल से इन्हें जगाऊँगा। **उत्तिष्ठत जाग्रत** – इस अभय वाणी को सुनाने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है । तुम लोग इस कार्य में मेरे सहायक बनो । गाँव-गाँव में, देश-देश में जाकर चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक सभी को यह अभय वाणी सुनाओ। सभी को पकड़-पकड़ कर कह दो – "तुम लोग अमित बलवान हो – अमृत के अधिकारी हो ।" इसी प्रकार पहले रज:शक्ति की उद्दीपना करके सबको जीवन-संग्राम के लिए सक्षम बनाओ, उसके बाद अगले जन्म में उन्हें मुक्ति प्राप्त करने की बात सुनाना। पहले भीतर की शक्ति को जगाओ, देश के लोगों को उनके पैरों पर खड़ा करो। पहले वे अच्छे भोजन-वस्त्र तथा उत्तम भोग आदि करना सिखें। उसके बाद उन्हें सब प्रकार के भोग-बन्धनों से मुक्त होने का उपाय बता देना ।[३१४]

सहानुभूति

सर्वदा जीवन-संग्राम में व्यस्त रहने के कारण निम्न श्रेणी के लोगों में अब तक ज्ञान का विकास नहीं हुआ। ये लोग अब तक मानव-बुद्धि-परिचालित यंत्र की तरह एक ही भाव से काम करते चले आये और बुद्धिमान चतुर लोग इनके श्रम तथा कार्य का सार निचोड़ लेते रहे हैं। सभी देशों में ऐसा ही हुआ है। पर अब वे दिन नहीं रहे। निम्न श्रेणी के लोग धीरे-धीरे यह समझ रहे हैं और सम्मिलित रूप से इसके विरुद्ध खड़े होकर अपने समुचित अधिकार प्राप्त करने हेतु दृढ़प्रतिज्ञ हो गये हैं। यूरोप और अमेरिका में निम्न जाति के लोगों ने जाग्रत होकर इस दिशा में प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया है और अब भारत में भी इसके लक्षण दीख रहे हैं। आजकल निम्न श्रेणी के लोगों द्वारा जो इतनी हड़तालें हो रही हैं, वे इनकी इसी जागृति का लक्षण है। अब हजार चेष्टा करके भी उच्च जातियों के लोग निम्न श्रेणी के लोगों को दबाकर नहीं रख सकेंगे। अब निम्न श्रेणी वालों को न्यायसंगत अधिकार की प्राप्ति में सहायता करने में ही उच्च श्रेणी वालों का भला है।

इसलिए तुम लोगों को ऐसे कार्य में लग जाने को कहता हूँ, जिससे आम जनता में विद्या का विकास हो। जाकर इन्हें समझाकर कहो – "तुम हमारे भाई हो, हमारे शरीर के अंग हो। हम तुमसे प्रेम करते हैं, घृणा नहीं।" तुम लोगों की यह सहानुभूति पाने पर ये लोग सौ-गुने उत्साह के साथ काम करने लगेंगे। आधुनिक विज्ञान की सहायता से उनमें ज्ञान का विकास कर दो। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य और साथ-ही धर्म के गम्भीर तत्त्व इन्हें सिखा दो। इससे शिक्षकों की निर्धनता भी मिट जायेगी और इस प्रकार के आदान-प्रदान से दोनों आपस में मित्र जैसे बन जायेंगे।

ज्ञान पाकर भी कुम्हार कुम्हार ही रहेगा, मछुआ मछुआ ही बना रहेगा, किसान खेती ही करेगा। कोई अपना जातीय धन्धा क्यों छोड़ेगा? **सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्** (हे अर्जुन, अपने सहज कर्म को सदोष, होने पर भी त्यागना नहीं चाहिए।) इस प्रकार की शिक्षा पाने पर वे लोग अपने-अपने व्यवसाय क्यों छोड़ेंगे? विद्या के बल से अपने सहज कर्म को वे और भी अच्छी तरह से करने की चेष्टा करेंगे। समय पर उनमें से दस-पाँच प्रतिभाशाली व्यक्ति अवश्य निकलेंगे। उन्हें तुम अपनी उच्च श्रेणी में सम्मिलित कर लोगे। तेजस्वी विश्वामित्र को ब्राह्मणों ने ब्राह्मण मान लिया था, तो इससे क्षत्रिय जाति ब्राह्मणों के प्रति कितनी कृतज्ञ हुई थी? इसी प्रकार सहानुभूति और सहायता प्राप्त करने पर मनुष्य तो दूर रहा, पशु-पक्षी भी अपने बन जाते हैं। इसीलिए कहता हूँ, इन निम्न जाति के लोगों को विद्यादान, ज्ञानदान देकर इन्हें नींद से जगाने के लिए सचेष्ट हो जाओ! जब वे लोग जागेंगे – और एक दिन वे अवश्य जागेंगे – तब वे भी तुम लोगों के किये उपकारों को नहीं भूलेंगे और तुम लोगों के प्रति कृतज्ञ रहेंगे ।[३१५] **लाखों गरीबों के हृदय-रक्त द्वारा अर्जित धन से शिक्षित होकर भी जो लोग उनकी ओर ध्यान नहीं देते, उन्हें मैं 'विश्वासघाती' कहता हूँ।**[३१६]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

३०५. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९) खण्ड ५, पृ. ३१८-१९; **३०६**. वही, खण्ड १, पृ. ४०२; **३०७**. वही, खण्ड ५, पृ. ३१९; **३०८**. वही, खण्ड २, पृ. ३३७-३८; **३०९.** वही, खण्ड २, पृ. ३१६; **३१०.** वही, खण्ड ६, पृ. २१५; **३११**. वही, खण्ड १, पृ. ४०२-०३; **३१२**. वही, खण्ड २, पृ. ३६५, खण्ड ७, पृ. ३६३; **३१३.** वही, खण्ड ४, पृ. २५३-५४; **३१४**. वही, खण्ड ६, पृ. १५५; **३१५**. वही, खण्ड ६, पृ. १०७-०८; **३१६**. वही, खण्ड ३, पृ. ३२९

जीवन जीने की कला

स्वामी आत्मानन्द

सुकरात कहते हैं कि हममें से अधिकांश लोग जीते तो हैं, पर जीने की कला नहीं जानते। इसलिए हरदम दुखी बने रहते हैं। जो व्यक्ति जीवन-कला जानता है, वही यथार्थ में जीवन का आनन्द उठाने में समर्थ होता है।

पूछा जा सकता है कि जीने की भी क्या कला होती है? इसका उत्तर है – हाँ। वह कला ही जीवन को जीने योग्य बनाती है। कला के अभाव में मनुष्य सहज प्रवृत्ति के अनुसार चलने वाला पशु हो जाता है। नीतिकार ने कलाविहीन मनुष्य को सींग और पूँछ से हीन पशु कहा है। पशु के जीवन में कोई कला नहीं होती, वह सहज प्रवृत्ति से परिचालित होता है। जैसे एक कुत्ते ने एक बच्चे की भेड़िये से रक्षा की। पर इस कारण कोई कुत्ते के प्रति कृतज्ञ हो उसे माला नहीं पहनाता। कारण यह है कि कुत्ते का यह व्यवहार उसकी बुद्धि के कारण नहीं है, वह महज instinct के, सहज प्रकृति के कारण है। और जीवन-कला बुद्धि से परिचालित होती है, 'इंसटिंक्ट' से नहीं।

मनुष्य जीवन-कला न जानने के कारण अपने को दुखी बना लेता है। इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर यहाँ एक ही यथेष्ट होगा।

मेरे एक मित्र भारतीय प्रशासनिक सेवा में उच्च पदस्थ अधिकारी हैं। बड़े ईमानदार और कर्मठ हैं। पर जीवन-कला की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया, इसलिए मुँहफट हो गये हैं। ईमानदार व्यक्ति कुछ रुखा-सा हो जाता है। अक्सर सत्य बोलने वाले लोगों को क्रोधी देखा जाता है। मेरे ये मित्र भी नियम-कानून के बड़े पक्के हैं और कहीं पर झुकना पसन्द नहीं करते। फलस्वरूप पीठ पीछे जब लोग उन्हें कोसते रहते हैं और जब यह बात उनके कान में आती है, तो वे निराश हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में से हरदम गुजरने के कारण वे तनाव और स्नायुदौर्बल्य के शिकार हो गये हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपना काम लेकर उनके पास आया। वे एकदम उस पर बरस पड़ते हैं और बोल उठते हैं कि काम नहीं होगा। बाद में भले ही वे उस व्यक्ति का काम कर देते हैं, पर उन्होंने प्रारम्भ में ही उस व्यक्ति को तो विरोधी बना ही लिया। काम हो जाने पर भी वह व्यक्ति यह नहीं सोचेगा कि साहब के कारण काम बना, क्योंकि साहब ने तो उसे दुत्कार ही दिया था। मैंने उन्हें सुझाव दिया कि जब भी कोई व्यक्ति अपना काम लेकर उनके पास आवे, तो वे खीजें नहीं, दुत्कारें नहीं, बल्कि सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए आगन्तुक को समझा दें कि काम इन-इन कारणों से होना कठिन है, पर मैं अपनी ओर से आपको मदद देने की भरसक कोशिश करूँगा। मनुष्य दो मीठे बोल ही सुनना चाहता है। जीवन-कला का यह एक पक्ष है।

उसका दूसरा पक्ष है – किसी भी आकस्मिकता के लिए तैयार रहना, यह अच्छी तरह समझ लेना कि दुनिया का गणित हमारी मर्जी के अनुसार नहीं चला करता। जब तक चलता दिखाई देता है, तो उसे हम ईश्वर की कृपा के रूप में स्वीकारें। और जहाँ वह गणित हमारे लिए गड्डमड्ड हो जाय, वहाँ हताश या निराश न हो उस परिस्थिति से जूझने का मनोबल ईश्वर की प्रार्थना में प्राप्त करने की चेष्टा करें। वास्तव में प्रतिकूल परिस्थितियों में ही मनुष्य की सच्ची कसौटी होती है। हमें यह अनुभव करना होगा कि जीवन का ताना-बाना है अनुकूलता और प्रतिकूलता। हमारी ऐसी अनुभूति प्रतिकूलता के क्षणों में हमारे कदमों को डगमगाने से बचाएगी।

जीवन-कला का तीसरा पक्ष है – दोष-दर्शन की वृत्ति को रचनात्मक बनाना तथा अभ्यास के द्वारा अपने भीतर गुण-दर्शन की वृत्ति पैदा करना। दोष-दर्शन हमारे स्वभाव में ही रूढ़ है, और बहुधा वह विनाशात्मक हुआ करता है। हम चटकारें लेकर दूसरों के दोषों का स्वाद लेते हैं और सबको बाँटते रहते हैं। यह हमें बड़ी हानि पहुँचाता है। दोष-दर्शन की इस वृत्ति को हमें रचनात्मक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए - जैसे चिकित्सक मरीज का दोष देखता है, और देखता ही नहीं बल्कि यंत्रों से उसे बढ़ा-बढ़ाकर देखता है। पर उसके पीछे उसकी भावना मरीज के दोष को दूर करने की होती है। इसे रचनात्मक या विधायक दोष-दर्शन कहते हैं। इसे साधने के लिए हमें अपने भीतर गुण-दर्शन की वृत्ति पैदा करनी चाहिए। यह हमारे स्वभाव में नहीं है। इस वृत्ति को ज्ञानपूर्वक अभ्यास से उत्पन्न करना होता है। किसी में मुझे चट से दोष ही दिखेगा, यह स्वाभाविक है। पर ज्योंही यह दोष-दर्शन की वृत्ति मुझमें जागे, मुझे उस व्यक्ति के गुणों को देखने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसा कोई मनुष्य न होगा, जिसमें दोष-ही-दोष हो और गुण न हो।

जीवन-कला के ये तीन पक्ष हमारे जीवन को भीतरी दृष्टि से समृद्ध करते हैं और अपने जीवन को सार्थक बनाने में हमारी मदद करते हैं। ❑❑❑

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)
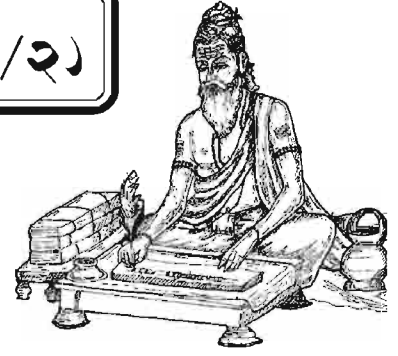
जब गणेशजी के दुग्धपान की घटना हुई थी, संयोगवश तब मैं यात्रा पर था। लोग मुझसे उस विषय में पूछते थे। मेरे शिष्य, स्नेही या परिचित लोग फोन से कई दिनों तक बस एक ही प्रश्न – ऐसा हो सकता है क्या? मैंने कहा – क्यों नहीं हो सकता? – पर कुछ वैज्ञानिक कहते हैं कि नहीं हो सकता। हमारे एक स्नेही हैं जैकोबाबाद में। उन्होंने एक बड़ी मनोरंजक बात कही। उन्होंने पूछा – गुरुदेव, गणेशजी के दुग्धपान के विषय में आपका क्या निश्चय है? मैंने कहा – मैं तो उस कार्य में सम्मिलित न हो सका, यात्रा में था; आपने चेष्टा की? बोले – हाँ। – क्या हुआ? बोले – गणेशजी की मूर्ति को मैंने दूध छह चम्मच पिला दिया। – आपने पिला दिया, उन्होंने पी लिया, अब मुझसे क्यों पूछ रहे हैं? बोले – महाराज, अखबार में दूसरे दिन पढ़ने को मिला कि वैज्ञानिक कहते हैं कि यह एक प्रकार का सामूहिक मतिभ्रम था। मैंने कहा – आपने जो देखा, उसकी जगह अखबारवाले वैज्ञानिक ने जो कह दिया, उसे आपने अपना मतिभ्रम मान लिया। यह तो मानो ऐसा है कि एक सज्जन के बारे में मैंने सुना कि ठण्ड तो उन्हें नहीं लग रही थी, पर अखबार में पढ़ लिया कि शीतलहर आ गई है, तो आग जला ली। जब अखबार में शीतलहर निकली है, तो ठण्ड लगे या न लगे, शीतलहर सचमुच आ गई होगी। कई लोग अखबार को वेद से भी अधिक प्रामाणिक मानते हैं। मैंने कहा – "देखिये, हमारी जो आस्तिक परम्परा है, उसके आधार पर हम इसे कैसे अस्वीकार कर सकते हैं।"

सीताजी ने पार्वतीजी का पूजन किया, तो पार्वतीजी हँसीं और उन्हें आशीर्वाद दिया। और मैं कहूँ कि यह सम्भव नहीं है, तो यह स्वयं में असंगत होगा। इन स्थितियों को हम कभी-कभी व्यर्थ की बातों में उलझा लेते हैं। आस्तिक श्रद्धा का आधार क्या है? वस्तुत: जड़-चेतन का विभाजन भी व्यवहार के लिये ही किया जाता है। व्यवहार में हम किसी को चेतन और किसी को जड़ कहते हैं, पर सत्य क्या है? वेदान्त और ज्ञान की परिभाषा में कहा गया, भगवान राम ने कहा – ज्ञान वह है जिसमें मान आदि एक भी गुण-दोष नहीं है और सबमें समान रूप से ब्रह्म दिखता है –

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं ।
देख ब्रह्म समान सब माहीं ।। ३/१५/७

जड़ और चेतन, दोनों में समान रूप से ब्रह्म दिखाई देता है। हिरण्यकश्यप जब प्रह्लाद को खम्भे से बाँध देता है और पूछता है – तुम्हारा ईश्वर कहाँ है? वहाँ तर्क और विश्वास का ही तो संघर्ष है। हिरण्यकश्यप भौतिक विज्ञान का साधारण नहीं, महान् पण्डित है। उसने वे अद्वितीय सफलतायें पा ली थीं, जो आज भी वैज्ञानिकों को नहीं मिल सकी हैं।

उसने पूरी तौर से निर्णय कर लिया था कि ईश्वर की कोई सत्ता नहीं है। उसकी अपनी क्षमताओं का कई रूपों में बड़ा अद्भुत वर्णन है। उसमें जल, थल, नभ – सबमें जाने की शक्ति थी। संकल्प से दूसरों के मन को जान लेने की शक्ति थी। जब वह ईश्वर को खोजने की चेष्टा करने लगा, तो किसी ने कहा कि ईश्वर क्षीरसागर में हैं। वह इतना समर्थ था कि क्षीरसागर भी पहुँच गया। नारदजी इन खेलों का बड़ा आनन्द लेते हैं। वह जब क्षीरसागर की ओर जाने लगा, तो उन्होंने भगवान विष्णु को जगाया। सोये हुए ईश्वर को भक्त ही जगाते हैं – महाराज, सोना छोड़िये। हिरण्यकश्यप लड़ने आ रहा है। भगवान हँसकर बोले – अभी नहीं। – महाराज, यह आप क्या कहते हैं! ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा कोना या स्थान नहीं है, जहाँ वह नहीं जा सकता! आप जहाँ छिपेंगे, वहीं चला जायेगा। भगवान हँसकर बोले – मैंने छिपने के लिये ऐसी जगह चुन ली है, जहाँ वह नहीं पहुँच सकेगा।

फिर क्या हुआ? हिरण्यकश्यप ने जाकर देखा – क्षीरसागर में कुछ नहीं हैं। वह लौट गया और बोला – "पाखण्डियों ने प्रचार कर रखा है कि क्षीरसागर में कोई विष्णु रहते हैं। मैंने तो जाकर देखा, कोई नहीं है। यह केवल प्रचार है। पर लगता है तुम लोगों से किसी ईश्वर के बिना नहीं रहा जाता, तो मुझे ही ईश्वर मान लो न! मैं भी क्या कम हूँ? ईश्वर के जो लक्षण मानते हैं, उनमें से प्राय: सभी तो मुझमें हैं ही।"

उसके पुत्र प्रह्लाद जितने सरल हैं, उतने ही विश्वासी भी हैं। उनको उसने कितने कष्ट दिये – पहाड़ से गिराया, नदी में डुबाया, सर्प से डँसवाया, पर उनकी मृत्यु नहीं हुई। लोग तो थोड़े चमत्कार से ही वशीभूत हो जाते हैं, हिरण्यकश्यप

को इतने चमत्कार देखने के बाद तो सोचना चाहिये था कि यह तो बड़ी उच्च कोटि की सिद्धि और चमत्कार है। पर जब किसी ने कहा कि प्रह्लाद अग्नि में नहीं जला, यह कोई साधारण चमत्कार है? तो हिरण्यकश्यप हँसते हुए बोला – "इसमें चमत्कार क्या है? यदि किसी पक्षी का बेटा आकाश में उड़ने लगे, तो इसमें कोई चमत्कार लगता है क्या? वह तो उसे सहज प्राप्त है, मैं भी अग्नि में नहीं जलता, वह भी नहीं जला। वह तो मेरा पुत्र होने का परिणाम है, किसी ईश्वर का परिणाम नहीं है।" इतना प्रबल तार्किक था। उसको भी शक्ति प्राप्त थी। अग्नि में जाने पर भी नहीं जलता था। ऐसा था हिरण्यकश्यप! बोला – जब मुझे सर्प काटता है, तो मैं नहीं मरता, ये सब मेरे गुण हैं और ईश्वर कौन होता है? जो अक्षम तार्किक हैं, वे व्यर्थ के शब्दों के द्वारा तार्किकता की बातें किया करते हैं, परन्तु इतनी उच्च स्थिति में पहुँचा हुआ वह व्यक्ति ईश्वर को अस्वीकार कर देता है।

और तब अन्तिम संघर्ष होता है। प्रह्लाद खम्भे से बाँध दिये गये। खम्भा जड़ है और प्रह्लाद चेतन हैं। हिरण्यकश्यप अपने को चेतन मानता है। और उस समय वह प्रश्नोत्तर होता है – तुम्हारा ईश्वर कहाँ है?

भगवान कहाँ छिप गये थे? नारदजी से जब प्रभु की भेंट हुई, तो उन्होंने पूछा – महाराज, आप कहाँ छिपे थे? हँसकर वे बोले – मैं जाकर हिरण्यकश्यप के हृदय में छिप गया था। क्या भाषा है, क्या शैली है! – वह मुझे बाहर खोज रहा था और मैं उसके हृदय में बैठा था। – इतने पास बैठे थे? बोले – मैं जानता था कि वह सिर झुकाना नहीं जानता और सिर झुकाये बिना हृदय दिखता नहीं, अतः वह चाहे जितना भी खोजता, मुझे पा नहीं सकता था। पर आज जब उसने प्रह्लाद से पूछा – तुम्हारा ईश्वर कहाँ है? तो उस आस्तिक ने यही कहा – वे तो सर्वत्र हैं। बड़े स्नेह से कहा – वे सबमें हैं – धरती पर, नभ में, पाताल में, आपमें और मुझमें। पूछा – इस खम्भे में? बोले – मुझे तो इसमें दिखाई दे रहे हैं, पर न जाने आपको दिखाई दे रहे हैं या नहीं –

बावरो तू, कछु जानै नहीं
प्रभु मेरे सब थल में बिहरै ।।
अवनी में आकाश में पतालहु में,
तो मह, मो मह तेज भरै ।।
प्रहलाद बड़ो करुणा कर सो
अस भक्तन को प्रन पूरो करै ।।
एहि खम्भ में मोहि तो देखि परे
तेहि देखि परै कि न देखि परै ।

इस प्रसंग की तात्त्विकता यह है कि एक व्यक्ति, इतना समर्थ होते हुए भी, ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करता है और वह इसलिये कि उसे लगता है कि क्या ईश्वर की सत्ता को बिना स्वीकार किये व्यक्ति क्या महान-से-महान वस्तुओं का स्वामी नहीं बन सकता? आज भी विज्ञान जो कुछ दिखा रहा है, वह साधारण चमत्कार नहीं है।

हिरण्यकश्यप ने बहुत आगे बढ़कर कहा – ईश्वर नहीं है। और तब उस संघर्ष का सूत्र मानो यही था ईश्वर सर्वत्र था और आगे प्रगट भी हुआ। पर पूछा गया – जब हिरण्यकश्यप के हृदय में भगवान थे, प्रह्लाद के हृदय में भी भगवान थे, खम्भे में भगवान थे, तो हिरण्यकश्यप का हृदय फाड़कर निकल आते। वह मर भी जाता और भगवान दिखाई भी दे जाते। भगवान खम्भे से क्यों प्रगट हुए? बोले – हिरण्यकश्यप जैसा नास्तिक! उसके हाथ में तलवार था और हृदय में ईश्वर। पर खम्भे से उनका भक्त बँधा हुआ था। खम्भा भक्त की भावना को प्रगट करके दिखा सकता था –

प्रगटे प्रभु पाहनतें न हिये तें ।। कविता., उ./१२९

और इसी को दृष्टिगत रखकर गोस्वामीजी के सामने मूर्ति -पूजा को लेकर प्रश्न किये जाते थे, तर्क-वितर्क किये जाते थे। निर्गुण-निराकार-वादी परम्पराओं में लोगों ने इस पर आक्षेप भी किया और प्रश्न भी किया गया कि इस पत्थर की मूर्ति की पूजा करने से क्या होगा? पत्थर तो जड़ है।

पत्थर का जड़ होना एक व्यावहारिक सत्य है, पर ईश्वर यदि सर्वव्यापी है, तो क्या वह पत्थर में नहीं है। जो लोग जड़ मानकर पूजा कर रहे हैं, वे कह सकते हैं कि वे प्रतीक की पूजा कर रहे हैं, पर जिसको सर्वत्र चैतन्य की सर्वव्यापकता का दर्शन हो रहा है, वह जड़ की पूजा कहाँ कर रहा है! वह तो ब्रह्म की आराधना कर रहा है और इसीलिये गोस्वामीजी ने कवितावली में बड़ा भावभरा चित्र प्रस्तुत किया। वे बोले – हिरण्यकश्यप ने हाथ में कृपाण अर्थात् तलवार निकाल ली और उसके हृदय में भी 'कृपा-न' कृपा का अभाव था। प्रह्लाद बिल्कुल नहीं डरे। हिरण्यकश्यप पूछता है – राम कहाँ? प्रह्लाद कहते हैं – सभी जगह हैं। हिरण्यकश्यप – खम्भे में? प्रह्लाद – हाँ।

काढ़ि कृपान, 'कृपा न कहूँ' पितु काल
कराल बिलोकि न भागे ।।
'राम कहाँ?' 'सब ठाऊँ हैं' 'खम्भ में?' 'हाँ' सुनि
हाँक नृकेहरि जागे ।। कविता., उ./१२८

भगवान कब जगे? आस्तिक के अस्तित्व के विश्वास में इतना बल था कि उसने कहा – हाँ। और उस 'हाँ' में इतनी शक्ति थी कि ईश्वर सचमुच प्रगट हो गये। और केवल प्रगटे ही नहीं, हिरण्यकश्यप का वध भी कर दिया। उसका सारा चमत्कार, सारी विशेषतायें और अपने को अजर-अमर मानने की भ्रान्ति मिट जाती है। उसने ऐसी सफलता पा ली थी कि न दिन में मरूँगा न रात में, न मनुष्य से मरूँगा न पशु से, न बाहर मरूँगा, न भीतर। अर्थात् कहीं नहीं मरूँगा। परन्तु

भगवान का संकल्प तो कुछ दूसरा ही होता है।

महाभारत के युद्ध में किसी ने धृतराष्ट्र से कहा – अपने लड़कों को क्यों नहीं समझाते? बोले – मैं समझाता तो हूँ, पर वे मानते कहाँ हैं। तो कहा – क्या आपको नहीं लगता कि विजय पाण्डवों की होगी? धृतराष्ट्र ने कहा – मुझे सन्देह है। – क्यों? बोले – उनके सेनापति धृष्टद्युम्न हैं और मेरे पुत्रों के सेनापति हैं भीष्म। और तुम जानते हो कि धृष्टद्युम्न की मृत्यु अनिवार्य है, पर भीष्म पितामह को यह वरदान मिला हुआ है कि जब वे इच्छा करेंगे, तभी उनकी मृत्यु होगी। तो हमारा सेनापति कभी नहीं मरेगा और उनका सेनापति तो मारा जायेगा। इसलिये जीत तो इधर की ही होगी।

सुनने में तो तर्क बड़ा ठोस था। पर अभागे धृतराष्ट्र को यह पता नहीं था कि भीष्म को भले ही इच्छा-मृत्यु का वर मिला हो, पर इच्छा करानेवाला तो उधर खड़ा था। और अन्त में यही तो हुआ, एक समय ऐसा आया, जब भगवान को लगा कि अब भीष्म की मृत्यु होनी चाहिये। इच्छा-मृत्यु का वरदान था, तो अन्तर्यामी ने उसके मन में इच्छा उत्पन्न कर दी। भीष्म सोचने लगे – "यह मैं क्या कर रहा हूँ? इतना बड़ा संहार हो रहा है, अब तो मेरी मृत्यु हो जाय, तो ही अच्छा।" इच्छा करानेवाले ने इच्छा करा दी। धृतराष्ट्र का सारा गणित झूठा हो गया। वह गणित ईश्वर के सामने तो नहीं चलता है। हिरण्यकश्यप का गणित भी गलत निकला। मृत्यु तो अनिवार्य है, और सारी चेष्टाओं के बाद भी इस पर विजय नहीं पाई जा सकती। और तब परिणाम क्या हुआ? – बैरी को उन्होंने विनष्ट कर दिया –

बैरि बिदारि भये बिकराल,
कहें प्रह्लादहि कें अनुरागे ।। कविता., उ./१२८

बड़ा विचित्र वेष है – आधा शरीर नर का और आधा सिंह का। बड़ा भयावना ! लग रहा है कि विश्व को नष्ट कर देंगे। देवता घबराते हैं – क्या करें? हिरण्यकश्यप तो मर गया, कहीं हम लोगों के पर भी तो एकाध पंजा नहीं चल जायेगा? कहीं हम लोगों को ही तो नष्ट नहीं कर देंगे? अब उनके पास जाकर प्रार्थना करने का कौन साहस करे ! उन लोगों ने शंकरजी से कहा – महाराज, अब क्या होगा? बोले – "तुम लोग क्यों चेष्टा करते हो? ये प्रह्लाद के भगवान हैं। उन्होंने ही जिस रूप में पुकारा, उस रूप में आये हैं। जाकर प्रह्लाद से ही कहो न।" उनसे कहा गया – किसी तरह से इनका क्रोध शान्त कीजिये। प्रह्लादजी मुस्कराते हुए ज्योंही उनके पास गये, नृसिंह भगवान ने उसे गोद में उठा लिया। उनका क्रोध शान्त हो गया और सिंह के रूप में अपनी जिह्वा से प्रह्लाद का सिर चाटने लगे। लोगों ने अनुभव किया कि प्रह्लाद जैसे भक्त ने भगवान को पत्थर से प्रगट किया है, तो शायद हम लोग भी पत्थर से भगवान को प्रकट कर सकते हैं। तभी से लोग पत्थर की पूजा करने लगे –

प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तबतें
सब पाहन पूजन लागे ।। कविता., उ./१२८

यह विनोद नहीं, सत्य है। आप सोचें कि यदि आप पूजा के देवता को जड़ मानते हैं, तो इससे बढ़कर नासमझी क्या होगी? क्या आप चेतन होकर जड़ की पूजा करते हैं? यदि आप यह कहें कि मैं चेतन होकर जड़ मूर्ति की पूजा कर रहा हूँ, तो यह तो अज्ञान है। जब आप को यह लगे कि मैं तो चेतन का अंश हूँ, पर समग्र व्यापक ब्रह्म यह सामने ही विद्यमान है, तो वही पराकाष्ठा है। प्रारम्भ में तो यह एक अभ्यास है, चेष्टा है। और इसलिये तो यह प्रश्न ही नहीं है कि कोई आस्तिक कहे कि यह सम्भव नहीं है।

अभी श्रद्धेय स्वामीजी ने एक दिन गोष्ठी रखा था। तो उन्होंने किसी ब्रह्मचारीजी से पूछा – इसके पीछे ईश्वर की क्या इच्छा है? बोले – यह तो वे ही जाने। हम तो केवल कल्पना ही कर सकते हैं कि क्या इच्छा रही होगी, वह सर्व-तंत्र-स्वतंत्र ईश्वर जड़ में, चेतन में सर्वत्र विद्यमान है। उसकी विद्यमानता का विश्वास जिसके जीवन में जितना होगा, उसमें उतना अधिक उस चेतना की अभिव्यक्ति होगी।

सीताजी ने पहली बार पार्वतीजी की पूजा की, तो लगता है कि जैसे हम-आप करते हैं, वैसा ही उन्होंने भी किया। पर इस बार के पूजन की विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने मन की आकुलता को शब्दों में प्रगट नहीं किया, कहा – आप मेरे मन की बात भलीभाँति जानती हैं, अत: मैंने उसे प्रकट नहीं किया। इसके बाद सीताजी ने उनके चरण पकड़ लिये। पार्वतीजी उनके विनय तथा प्रेम से वशीभूत हो गयीं, उनके गले की माला गिर पड़ी और मूर्ति मुस्कुरा पड़ी। सीताजी ने माला को उठाकर अपने शीश पर धारण कर लिया –

कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेहीं ।
अस कहि चरन गहे बैदेहीं ।।
बिनय प्रेम बस भई भवानी ।
खसी माल मूरति मुसुकानी ।।
सादर सियँ प्रसादु सिर धरेऊ । १/२३६/४-६

प्रेम, विश्वास और विनय के द्वारा ही इष्ट की शक्ति प्रगट होती है। पहले एक संकेत हुआ। मूर्ति ने दिया नहीं, बल्कि माला खिसक गई। सीताजी ने उसे नहीं माना। उन्होंने सोचा – शायद ऐसे रखी थी कि खिसक गयी। बुद्धिवादी तो तर्क करेगा ही कि माला खिसक गई, तो इसमें चमत्कार क्या है? पर सीताजी को लगा कि यह पार्वतीजी की प्रसन्नता का लक्षण है। इसके बाद वाणी प्रकट हुई। उन्होंने कहा – तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी और उसके साथ-साथ विनोदपूर्ण स्वर में बोलीं – नारदजी का वचन सदा पवित्र तथा सत्य है, तुम्हें अपने मन की रुचि के अनुसार ही वर मिलेगा –

नारद बचन सदा सुचि साचा ।
सो बरु मिलिहि जाहिं मनु राचा ।। १/२३६/८

जिसमें तुम्हारा मन अनुरक्त है, वही सहज-सुन्दर साँवला वर तुम्हें प्राप्त होगा। वह करुणानिधान, सर्वज्ञ आपके शील तथा स्नेह को जानता है। इस प्रकार पार्वतीजी का आशीष सुनकर सीताजी तथा सखियाँ हृदय से हर्षित हुईं और गौरीजी को बारम्बार पूजकर आनन्दपूर्वक महल में लौटीं –

मनु जाहिं राचेउ मिलिहि सो
बरु सहज सुन्दर साँवरो ।
करुना निधान सुजान सीलु
सनेहु जानत रावरो ।।
एहि भाँति गौरि असीस सुनि
सिय सहित हियँ हरषीं अली ।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि
मुदित मन मंदिर चली ।। १/२३६

कई वृत्तियाँ ऐसी होती हैं, जिनको छिपाने से ही भला होता है। अपना विश्वास, अपनी प्रीति, अपनी भावना को बार-बार लोगों के समक्ष प्रकट करने से उसकी हानि होती है –

जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ ।
फलइ तबहिं जब करिअ दुराऊ ।। १/१६८/४

इसलिये यह छिपाना कपट नहीं है। भगवान श्रीराम यदि प्रगट कर देते हैं, तो वे सरल हैं और सीताजी छिपाती हैं, तो वे कपटी नहीं हैं। वह तो मानो उनका सयानापन है। उन्होंने प्रभु को हृदय में धारण किया है, इस धारणा को क्या दिखाने की आवश्यकता है? इसलिये शंकरजी ने सतीजी से कहा – यह तुम्हारा नारी-स्वभाव है –

सुनहि सती तव नारि सुभाऊ । १/५१/६

यह नारी-स्वभाव की निन्दा नहीं है। नारी जीवन में सहज रूप से संकोच, शील और छिपाने की प्रवृत्ति होती है। पर जो नहीं छिपाना चाहिये, आप उसे छिपा रही हैं। भावना आदि को छिपाने से तो उसकी वृद्धि होती है, पर यदि आपके हृदय या शरीर में कोई रोग हो जाय, तो उसे छिपाना उचित नहीं होगा। उन्होंने कहा – संशय छिपाने की वस्तु नहीं है। संशय महान् रोग है, जो व्यक्ति को भीतर-ही-भीतर खोखला कर देता है, अत: सन्देह नहीं करना चाहिये –

संसय अस न धरिअ उर काऊ ।। १/५१/६

समझाने के लिये वे कहने लगे – जानती हो सीताजी कौन हैं? जिनकी कथा अगस्त्यजी ने सुनायी थी और –

जासु कथा कुंभज रिषि गाई ।। १/५१/७

अब सुना हो, तब न उनको ध्यान आवे। वे तो केवल बैठी थीं। और कहा – ये ही मेरे इष्टदेव श्री रघुवीर हैं, धीर मुनिगण जिनका सेवन किया करते हैं –

सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा ।
सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ।। १/५१/८

बड़ा दिव्य वर्णन किया, पर सती मानो अपनी बुद्धिमत्ता से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाईं। और यह बहुत बड़ी समस्या है। जो तार्किक होता है, बुद्धिमान होता है, जिसकी विज्ञान में भक्ति होती है। याद रहे, भक्तों का अन्धविश्वास तो सार्थक है, पर ये विज्ञान के तथाकथित भक्त ऐसे अन्धविश्वासी होते हैं कि किसी वैज्ञानिक ने कुछ कह दिया, तो वही उनके लिये परम प्रमाण है। कल बदल जायँ, तो कोई हर्ज नहीं है। नियमों, सिद्धान्तों की खोज चलती रहती है।

सचमुच यह कठिन स्थिति है। यह कोई निन्दा की बात नहीं है। यदि किसी के मन में ऐसा अन्तर्द्वन्द्व होता है, तो यह कोई बुरी बात नहीं है। पर यदि संशय है, तो उसका दुष्परिणाम भी होगा। और वही जो परिणाम सती के जीवन में हुआ, उन्होंने भगवान को जानने की चेष्टा की, पर उचित पद्धति का आश्रय नहीं लिया। भगवान को कैसे जाना जाता है? और वह सूत्र महर्षि वाल्मीकि ने कहा था – हे राम, जगत् दृश्य है और आप द्रष्टा हैं, आप ही ब्रह्मा-विष्णु और महेश को नचानेवाले हो। जब वे भी आपका तत्त्व नहीं जानते, तो भला आपको कौन जान सकता है –

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे ।
बिधि हरि संभु नचावनिहारे ।।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा ।
और तुम्हहि को जाननिहारा ।। २/१२७/१-२

और जानने का उपाय? बोले – कोई व्यक्ति आपको बुद्धि और तर्क से नहीं जान सकता। आप जिसको जना देते हैं, केवल वही जान पाता है –

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई ।
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ।। २/१२७/३

पर सतीजी ने प्रभु को जानने का जो मार्ग चुना, वह ठीक नहीं था। उसके फलस्वरूप उनके अन्त:करण की समस्यायें उलझती चली गयीं और अन्त में स्थिति ऐसी आ जाती है कि वे भगवान राम के सामने मानो परीक्षा लेने के लिये सीताजी का वेष बनाकर जाती हैं। – यदि राम सर्वज्ञ होंगे तो मुझे पहचान लेंगे। सर्वज्ञ नहीं होंगे, तो नहीं पहचानेंगे।

पर ईश्वर चाहे तो परीक्षा दे और चाहे तो न दे। न दे, तो आप क्या कर लेंगे? आप उसको चुनौती दीजिये – यदि तुम हो, तो सिद्ध करो कि हो। आप चिल्लाते रहिये। क्या वह आपसे प्रमाण-पत्र लेकर ईश्वर रहेगा? आप देखें और कह दें – हाँ, मैंने देख लिया है, ईश्वर है। वाह रे आपका प्रमाणपत्र। उसे आपके प्रमाणपत्र की कोई अपेक्षा नहीं है।

ईश्वर बड़ा कौतुकी है। रावण परीक्षा लेने गया और सती भी परीक्षा लेने के लिये गईं। रावण ने सोचा – सोने का मृग लेकर चलूँगा; यदि ईश्वर होगा, तो समझ लेगा कि यह

नकली मृग है। पर ईश्वर तो ऐसा अनोखा निकला कि सोने का मृग आया, तो उसको न केवल सही मान लिया, बल्कि उसके पीछे भी भागने लगा। रावण ने सिर पीट लिया – कल क्या मैं नशे में था? मुझे ऐसा बुद्धि भ्रम हो गया था। अरे यह तो ईश्वर क्या, साधारण बुद्धिवाला भी नहीं है। बुद्धिमान होता, तो सोचता कि सोने का मृग नहीं होता।

और जब सती आईं, तो उन्होंने दूसरा खेल कर दिया। सतीजी ने सोचा कि एक ही उपाय है। सीताजी के लिये रो रहे हैं, मैं उन्हीं का वेश बनाकर जाऊँ। जब इतने पागल हो रहे हैं कि लता-वृक्षों से पता पूछ रहे हैं। जब वे 'हाय प्रिये, हाय प्रिये' कहकर मेरी ओर दौड़ेंगे, मुझे हृदय से लगाने की चेष्टा करेंगे, तो समझ लूँगी कि हमारे पतिदेव की बुद्धि अभी ठीक नहीं है। पर ऐसा नहीं हुआ। प्रभु ने यहाँ उल्टा किया। यहाँ लगा कि वे परीक्षा देने को तैयार हो गये। सतीजी जब सीताजी का वेष बनाकर आईं, तो लक्ष्मणजी उन्हें पहचान गये – अरे, ये तो भगवान शंकर की पत्नी सती हैं। इन्होंने सीताजी का वेष क्यों बना रखा है? गोस्वामीजी कहते हैं – गुरुजी की बात दूर, चेला ही समझ गया। ईश्वर ने समझ लिया, वह तो अलग बात है, पर उससे पहले लक्ष्मणजी ही समझ गये। और गोस्वामीजी ने बड़ा सुन्दर शब्द चुना –

लछिमन दीख उमाकृत बेषा। १/५३/१

सती का यह उमा नाम तब पड़ा, जब उन्होंने पार्वती के रूप में जन्म लिया। तो इस समय गोस्वामीजी को लिखना चाहिये था – लक्ष्मणजी ने सती का बनाया हुआ वेष देखा। पर बहुत बड़ी बात बता दी गई। लक्ष्मणजी सोचने लगे – ऐसा क्यों हो रहा है, मेरे मन में उमा नाम क्यों आया? अच्छा, तो यह आयोजन सती को आगे चलकर उमा बनने हेतु हो रहा है। लक्ष्मणजी इतने बड़े द्रष्टा हैं कि समझ गये कि आगे क्या होनेवाला है? तो प्रभु से कहना चाहिये कि नकली वेष बनाकर आई हुईं हैं। फिर सोचा – मैं क्यों कहूँ? देखे, इनकी अपनी लीला का खेल होगा। चुप रह गये।

पर सर्वद्रष्टा अन्तर्यामी श्रीराम सती के कपट को समझ जाते हैं। सतीजी ने तब भी छिपाने की चेष्टा की –

सती कपटु जानेउ सुरस्वामी।
सबदरसी सब अन्तरजामी।।
सती कीन्ह चह तहँहुँ दुराऊ।। १/५३/३,५

और तब प्रभु ने क्या किया? सतीजी को सीताजी के वेष में देखते ही उन्हें प्रणाम किया। शंकरजी ने प्रभु को प्रणाम किया। प्रभु ने सतीजी को प्रणाम किया –

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।

ईश्वर प्रणाम करे या जिज्ञासु? प्रभु का तात्पर्य है – आप जिज्ञासु बनकर नहीं, परीक्षक बनकर आई हैं, अत: प्रणाम तो मुझे ही करना चाहिये – आइये, परीक्षा लीजिये। मैं दशरथ का पुत्र आपको प्रणाम करता हूँ। शंकरजी कहाँ हैं? यहाँ जंगल में अकेले ! आपने सुना नहीं कि हमारी प्रिया का हरण इसलिये हो गया कि वे वन में अकेली हो गई थीं। सुनने वाले को दूसरे से सीखना तो चाहिये था। आपने यदि कथा सुनी होती, तो समझ जाती कि अकेला होना बड़ा संकटप्रद है। शंकरजी को छोड़कर, विश्वास को छोड़कर संशय के वन में आप अकेली क्या कर रहीं हैं? –

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।
पिता समेत लीन्ह निज नामू।।
कहेउ बहोरि कहाँ वृषकेतू।
बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू।। १/५३/७-८

इस प्रकार प्रभु ने जना दिया। प्रभु से पूछा गया – रावण को तो आपने उल्टा जनाया। प्रभु हँसकर बोले – रावण अपने अंहकार से परीक्षा लेने आया, अत: मैंने उसके सामने दूसरा रूप प्रगट किया, पर सतीजी को देखकर लगा कि शंकरजी के कहने से आई हैं, तो हमारा कर्तव्य है कि इन्हें थोड़ा-सा कुछ दिखा ही दिया जाय। और भगवान ने दिव्य चमत्कार दिखाया कि जहाँ देखती हैं, वहीं प्रभु विराजमान हैं, सीताजी विराजमान हैं और लक्ष्मण विराजमान हैं। सारे देवता प्रणाम कर रहे हैं। गोस्वामीजी कहते हैं – सतीजी इतनी घबरा गईं कि नेत्र मूँदकर रास्ते में ही बैठ गईं –

नयन मूदि बैठीं मग माहीं।। १/५५/६

बस, बस, अब देखने की शक्ति नहीं है। पर इतना होने के बाद भी, जो आना चाहिये था, वह नहीं आया। क्यों नहीं आया? क्योंकि अभी भी कुछ सिद्ध करने में लगी हुईं हैं। अहं पर बड़ी चोट लगी कि मैं कितनी नासमझ हूँ, अज्ञानी हूँ। इसलिये जब शंकरजी के पास लौटकर गईं और उन्होंने पूछा – आपने किस विधि से परीक्षा ली? –

लीन्हि परीछा कवन बिधि ...।। १/५५

सतीजी बोलीं – क्यों? कहा – अनादि काल से अब तक पता नहीं चला कि ईश्वर की परीक्षा लेने की भी कोई विधि होती है, पर आप गई थी, तो मुझे भी वह विधि बता दीजिये। सतीजी ने सोचा – बताऊँगी तो मेरी हँसी होगी, व्यंग्य करेंगे। कपट करके गई थीं, इसलिये तुरन्त कहा – महाराज, मैंने कोई परीक्षा थोड़े ही ली। – तो वहाँ किसलिये गई थी? बोलीं – आपने जरा दूर से प्रणाम किया था, मैं पास में जाकर प्रणाम कर आई –

कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं।
कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं।। १/५६/२

कथा-श्रवण के अभाव में, ईश्वर-महिमा का दर्शन करने के बाद भी कपट, असत्य आदि नहीं छूटता है। फिर उसके बाद जो लीला होनेवाली है, उसे भगवान शंकर समझ जाते हैं, प्रभु की प्रेरणा हो जाती है। शंकरजी सतीजी का त्याग

कर देते हैं – इस जन्म में अब सती से मेरा मिलन नहीं होगा। और तब वह सूत्र बहुत सुन्दर है – संस्कार से मुक्त होना कितना कठिन है ! भगवान शंकर ने बिना बोले कि मैंने त्याग किया है, त्याग कर दिया। लेकिन वहाँ पर भी सतीजी के दुख को दूर करने के लिये शंकरजी कथा सुनाते हैं। पर दुख कम नहीं होता, विमान आते हुए दीख पड़ते हैं। उन्हें देखकर सतीजी पूछ देती हैं – ये विमान कहाँ जा रहे हैं? बोले – तुम्हारे पिताजी के घर जा रहे हैं। – क्या हो रहा है वहाँ? – यज्ञ हो रहा है। – तो महाराज, आपको निमंत्रण नहीं आया? – हाँ, तुम्हारे पिताजी मुझसे बुरा मान गये। अनजाने में उनको भ्रम हो गया। सतीजी ने कहा – महाराज, मैं चली जाऊँ? शंकरजी बोले – पिता के घर में, श्रेष्ठजनों के घर में भी बिना निमंत्रण के जा सकते हैं, पर जहाँ कोई विरोध मानता हो, वहाँ जाने से कल्याण नहीं होता –

तदपि बिरोध मान जहँ कोई ।
तहाँ गएँ कल्यानु न होई ।। १/६१/६

शंकरजी के इतना कहने के बाद भी, इतना कष्ट भोगकर भी नहीं सीख पाई। शंकरजी से कहा – महाराज, झगड़ा आपसे होगा, मुझसे थोड़े ही है ! मैं तो जरूर जाऊँगी –

कहि देखा हर जतन बहु
रहइ न दच्छकुमारि ।। १/६२

फिर वही भूल ! दक्ष की बेटी हैं। बुद्धि के अभिमान का संस्कार इतना गहरा है कि शिव की बात नहीं मानतीं। और वहाँ जाकर जब सती को अपने पिता का दोष, अभिमान का दोष अनुभव हुआ, तब वे निश्चय करती हैं कि यह शरीर दक्ष द्वारा निर्मित हुआ है, इसीलिये मैं बुद्धि के अभिमान से मुक्त नहीं हो पा रही हूँ। मैं इस शरीर का त्याग करूँगी। इसके बाद वे शिव को पाने के लिये निरन्तर प्रार्थना करते हुए शरीर छोड़ देती हैं और तब पार्वती के रूप में उनका जन्म होता है। तदुपरान्त वे तपस्या करती हैं। उसके बाद विवाह होता है। विवाह के पश्चात् शृंगार-रस की लीलायें होती हैं। गणेश और कार्तिक का जन्म होता है। और इसके बाद भी शंकरजी ने कथा नहीं सुनाई। कितना कठिन है श्रोता बनना !

कथा तब सुनाईं, जब कैलाश के एक शिखर पर भगवान शंकर बिल्कुल अकेले हैं। यहाँ तक कि कोई चेला या गण भी साथ में नहीं था। बाघाम्बर स्वयं अपने हाथ में लिये हुए शंकरजी आ गये और अपने हाथ से बिछा लिया –

निज कर डासि नागरिपु छाला ।। १/१०६/५

भगवान शंकर मानो शान्तरस में विद्यमान हैं और पार्वतीजी सारे कार्यों से मुक्त होकर जिज्ञासा प्रगट करती हैं –

धरें सरीरु सांतरसु जैसें ।। १/१०६/१

शंकरजी अपने गणों को भी नहीं बुलाते। यह अद्वैत ज्ञान के शिखर पर बैठकर कही गई कथा है। कितने दुर्लभ हैं – शिव के समान वक्ता और पार्वती के समान श्रोता !

अन्य चार शिखर मानो नाम, रूप, लीला और धाम हैं। वहाँ पर चार शिखर हैं और चारों पर चार प्रकार की साधना और भगवत्कथा के उपदेश होते हैं। मानो ज्ञान के शिखर पर, भक्ति के चारों शिखर पर और फिर यहाँ उन पर्वतों से उतरकर त्रिवेणी में, जहाँ गंगा-यमुना तथा सरस्वती का संगम है, वहाँ पर वक्ता याज्ञवल्क्य हैं, जो स्मृति के निर्माता हैं। वहाँ भरद्वाजजी ने उनसे श्रीराम के चरित्र पर प्रश्न किया।

ज्ञानी ने ज्ञान-शिखर पर बैठकर सुनाया। भक्त ने सुमेरू के चार शिखरों का आश्रय लेकर सुनाया और स्मृतिकार – कर्मयोग के व्याख्याता ने त्रिवेणी के तट पर, गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम पर श्रोताओं को सुनाया। गंगा भक्ति है, यमुना कर्म की नदी है, सरस्वती ज्ञान की नदी है और त्रिवेणी संगम पर बैठकर भगवान की मंगलमयी कथा होती है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की दृष्टि से, कर्म की दृष्टि से और धर्मशास्त्र की दृष्टि से भी कथा-श्रवण सबके लिये उपयोगी है। यदि आप कर्म का रहस्य जानना चाहें, तो कथा-श्रवण करें। ज्ञान का तत्त्व जानना चाहें, तो कथा-श्रवण करें, भक्ति का रस पाना चाहें, तो कथा-श्रवण करें। और यदि स्वयं में ही रस लेना चाहें तो इस कथा का मन-ही-मन रस लीजिये। गोस्वामीजी जैसा एक दिव्य रस लेते हैं। क्योंकि शंकरजी के कथा के द्वारा यह सुनकर डर लगा कि जब उनके गणों को भी सुनने को नहीं मिला, तो हमें भला कहाँ मिलेगा। और कथा सुनाने के बाद अन्त में शंकरजी ने यह भी कहा – यह कथा याद रखना, मैंने तुम्हें सुना दिया; पर कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्हें तुम बिल्कुल मत सुनाना। उन दुष्टों को यह कथा बिल्कुल नहीं सुनना चाहिये, जो मन लगाकर नहीं सुनते –

यह न कहिअ सठही हठसीलहि ।
जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि ।। ७/१२७/३

लोग डर गये – अब तो हम भला कैसे सुन सकेंगे? पर गोस्वामीजी ने हम लोगों के लिये एक नई बात कह दी। उनसे पूछा गया – आप किसको सुना रहे हैं।

रामायण में शंकरजी पार्वतीजी से कहते हैं, याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी से कहते हैं, कामभुशुण्डिजी गरुड़जी से कहते हैं, पर तुलसीदासजी किसे सम्बोधित करके कहते हैं – अरे, सुन, सुन। – कौन? बोले – ओ मेरे दुष्ट मन ! शिष्ट मन से दुष्ट मन तक, मानो यह कथा ज्ञान के अद्वितीय आधिकारियों के लिये भी है, भक्ति के रसिकों के लिये भी है और जो कर्म के रहस्य को जाननेवाले हैं, उनके लिये भी है। पर जिन्हें लगता हो कि मेरा मन तो चंचल है, शठ है, कथा में लगता ही नहीं। गोस्वामीजी कहते है – उसे सुनाते रहो, सुनाते रहो। सुनते-सुनते इसमें भी शठत्व नष्ट होकर धन्यता आयेगी।

❖ (क्रमशः) ❖

विजय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है (७)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(श्री संत गजानन संस्थान अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द जी पिछले कई वर्षों से वहाँ के विद्यार्थियों के मध्य व्याख्यान देने जाते रहें हैं। कभी-कभी उन्होंने वहाँ के विद्यार्थियों के लिये अंग्रेजी भाषा में व्यक्तित्व विकास सम्बन्धी कार्यशालाएँ भी आयोजित की थीं, जिनमें दिये गये कुछ व्याख्यानों को उक्त महाद्यिालय ने छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। उन्हीं में से एक पुस्तिका "Born to Win" का रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, के ब्रह्मचारी जगदीश ने 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ हिन्दी में अनुवाद किया है। - सं.)

परम विजय

हमने जीवन-संघर्ष में विजय के उपायों, साधनों, मार्गों एवं प्रक्रियाओं पर पर्याप्त चर्चा की है। हम परम लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता हेतु प्रक्रियाओं पर बात कर रहे थे। अब वह समय आ गया है, जब हमें जीवन में अंतिम विजय से हमारा क्या तात्पर्य है, इस ओर ध्यान देना चाहिए। वह क्या है – जिसे प्राप्त कर लेने से हमें इस बात का अनुभव होगा कि हमने जीवन-संघर्ष में अंततः विजय प्राप्त कर ली है। हम विजेता हैं। हमें अन्य कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा। हमारी विजय निरपेक्ष, निर्द्वन्द्व एवं परिपूर्ण है। जब तक हमारे जीवन में यह अनुभूति नहीं आती है, तब तक कोई भी विजय पूर्ण एवं संतोषजनक नहीं होगी, निष्कर्षतः वह हमें पराजय का ही अनुभव करायेगी।

अतः इस विषय पर हमें कुछ विस्तार से चर्चा करनी चाहिए। हम जानते हैं कि मनुष्य बहु-आयामी है। हमारा व्यक्तित्व बहु-आयामी है। किन्तु इन सारे आयामों को एक आयामी किया जा सकता है। उन्हें सम्यक् महत्व एवं संतोष प्रदान करते हुए, समायोजन एवं एक-रूपता प्रदान कर एक-आयामी जीवन में परिवर्तित किया जा सकता है।

परम विजय का कोई भी अभियान हमारे भौतिक आयाम - हमारे शरीर को, ध्यान में रखने वाला अवश्य होना चाहिए। हमें अपनी देह को स्वस्थ एवं चुस्त रखना चाहिए। हमें जीवन के किसी भी स्तर पर, हमारे भौतिक आयाम के दुरुपयोग को, प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

इससे कुछ अधिक महत्वपूर्ण अपितु दुरूह आयाम है – हमारा मन। हमें मन के स्वास्थ्य एवं दृढ़ता का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि जीवन में संतोष एवं पूर्णता बोध केवल मन से ही अनुभव किया जाता है। जब तक हमारा मन स्वस्थ एवं बलशाली नहीं है, तब तक अपने जीवन के परम ध्येय को प्राप्त करने में हम असमर्थ रहेंगे। हम अपने अन्य शेष आयामों को एकरूपता एवं एक दिशा नहीं दे सकेंगे। इसी मानसिक-आयाम में ही हम अपने बहु-आयामी व्यक्तित्व की समरसता को प्राप्त करेंगे।

अतः अपने व्यक्तित्व के इस मानसिक आयाम को पूर्णतः स्वस्थ एवं समृद्ध रखने की ओर हमें अपना अधिकतम ध्यान केन्द्रित करना होगा; जिसके परिणाम स्वरूप अन्य सभी आयामों को समरस एवं एकरूप करते हुए, जीवन-संघर्ष में परम विजय की प्राप्ति की जा सके।

केवल अपने जीवन के नैतिक एवं आध्यात्मिक आयामों पर विजय ही- जो हमारा परम ध्येय है - हमें जीवन में परम संतोष एवं पूर्णता प्रदान कर सकती है। जिस दिन हम अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक आयामों से एकत्व अनुभव कर लेंगे, उस दिन हमें इस बात का ज्ञान हो जायेगा कि अंततः हमने जीवन-संघर्ष में अंतिम विजय प्राप्त कर ली है! हम विजेता हैं! अब कुछ विजय करना शेष नहीं है! हमें अन्य कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहा! इस तरह हमारा जीवन धन्य एवं पूर्ण हो जाएगा।

मार्ग की बाधाएँ

किन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने के पूर्व हमें स्मरण रखना होगा कि परम लक्ष्य का यह मार्ग काँटों, गड्ढों एवं अन्य अनेक कठिनाइयों से भरा हुआ है। इस राह में अनेक संकट हैं तथा यह परम विजय की प्राप्ति तक चलनेवाला सतत संघर्ष है।

उनमें से एक, लगभग दुर्जेय, बाधा है – हमारा "अहं"। अहंकार कभी हमारी दुर्बलताओं एवं कमियों को हमें स्वीकार करने नहीं देता। आत्म-निरीक्षण एवं आत्म-विश्लेषण में अहंकार सबसे बड़ी बाधा है। जब तक हम अपने बाह्य एवं अंतः-व्यक्तित्व का निरीक्षण एवं परीक्षण नहीं कर लेते, तब तक अपने भले एवं बुरे गुणों का परिचय कैसे प्राप्त करेंगे? अहंकार कदाचित् ही कभी हमें यह करने देगा। अतः हमारा यह सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि अहंकार को त्याग कर, इसके विपथगामी सुझावों की अवहेलना कर, विवेक द्वारा स्वयं की परीक्षा एवं विश्लेषण करके हम अपने गुण-दोषों का पता लगायें। इस तरह, यदि हम वास्तव में परम-विजय के आकांक्षी हैं, तो हमें विवेक एवं विवेचन-क्षमता की सहायता से अपने अहंकार को शिथिल करना होगा।

सांसारिक अति-महत्वाकांक्षायें

इस मार्ग की अगली बाधा है – ''सांसारिक अति महत्वाकांक्षायें'' । इसमें कोई संदेह नहीं कि परम विजय की तैयारी के रूप में जीवन को सहज बनाने हेतु कुछ आवश्यक सांसारिक महत्वकांक्षायें रखी जा सकती हैं ।

हमें अपने जीवन की अवस्था एवं स्तर के अनुसार, सम्मानजनक एवं शालीनतापूर्वक, दैहिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो अवश्य करनी चाहिए, किन्तु इसमें एक भय बना रहता है । क्योंकि आवश्यक महत्वाकांक्षाओं के नाम पर, सम्मानजनक एवं शालीन सामाजिक जीवन शैली के नाम पर, हम अपने परम लक्ष्य को भूलकर, केवल अहंकार प्रेरित इन सांसारिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में ही अपनी समस्त ऊर्जा एवं समय को लगा बैठते हैं । यह हमारे जीवन को विलासिता एवं भोग-परायणता की ओर घसीट ले जाता है तथा हमें यह विस्मरण करा देता है कि परम जीवन-संघर्ष में विजय केवल कठोर परिश्रम से ही मिलेगी । विलासितापूर्वक जीवन जीने की आदत हमें आवश्यक एवं अटल जीवन-संघर्ष हेतु असमर्थ बना देती है । सांसारिक महत्वाकांक्षायें अंततः हमें पराजय की ओर ही अग्रसर करती हैं तथा हम जीवन का वास्तविक उद्देश्य भूल बैठते हैं ।

अतः प्रारम्भ से ही हम सावधान रहें । जिससे यह महान् शत्रु हमारे जीवन में कोई स्थान न बना सके ।

आलस्य

हमारे मार्ग की दूसरी बड़ी बाधा एवं गुप्त शत्रु है - आलस्य और दीर्घसूत्रता । बहुधा आलस्य हमारे जीवन में छद्म रूप में, चोरी-छिपे प्रवेश करता है । यह सदैव हमें उन कठिन कार्यों को भविष्य के लिए स्थगित करने का सुझाव देता रहता है, जिन कार्यों का जीवन-संघर्ष में सफलता प्राप्ति हेतु अनिवार्य रूप से सम्पादन किया जाना था । इस तरह कठिन एवं आवश्यक कार्यों का स्थगन हमारे जीवन को दिन-पर-दिन दुर्बल करता जाता है । और एक समय ऐसा आता है कि जब उन कार्यों को और अधिक स्थगित नहीं किया जा सकता । तब परम लक्ष्य की प्राप्ति के कठिन संघर्ष की बात तो दूर रही, हम अत्यन्त प्रारम्भिक मोर्चों पर भी सामना कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं ।

अतः हम सचेत हों एवं सावधानीपूर्वक इस शत्रु को इसके शैशव में ही नष्ट कर दें । हम अपने दैनन्दिन जीवन के कार्यों का सम्पादन करते हुए, आलस्य प्रणीत दीर्घसूत्रता के सुझावों की अनसुनी एवं अवहेलना करें । हमारी सफलता एवं विजय के इस महान् शत्रु को प्रारम्भ में ही हम अपने पैरों तले रौंद डालें ।

प्रत्येक कार्य को पूर्ण करें

व्यक्ति की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह एक ही समय में ढेर सारी योजनाओं एवं कार्यों को करना प्रारम्भ कर देता है, जिनमें से कदाचित् एक को ही पूरा होने में वर्षों लगें । किन्तु असावधान मनुष्य का धोखेबाज मन उसे यह सुझाव देता है कि सारी योजनाओं को एक साथ ही सफलतापूर्वक पूरा किया जा सकता है । वे जीवन-संघर्ष में एक साथ कई मोर्चे खोल बैठते हैं और पाते हैं कि किसी भी मोर्चे पर वे आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पा रहे हैं, और इस तरह सभी मोर्चों पर पराजित होकर वे सम्पूर्ण पराजय को प्राप्त होते हैं ।

अतः हम सावधान रहें तथा एक समय में ढेर सारी योजनाओं एवं कार्यों को करने से बचें । हम अपने जीवन की समय-चर्या में यह नियम बना लें कि एक समय में एक कार्य उसकी पूर्णता तक करेंगे । पहले हम हाथ में लिये हुए एक कार्य को पूर्ण करें और तब दूसरा कार्य हाथ में लें ।

हम इस प्रकार जियें, मानो आज जीवन का अंतिम दिन है । आइए कल्पना करें कि आज जीवन का अंतिम दिन है, तब विचार करें कि हम कैसे जीना चाहेंगे । वे कौन से कार्य होंगे जिन्हें हम सर्वप्रथम पूरा करेंगे अर्थात् हमारी प्राथमिकतायें क्या हैं? दूसरा, वे कौन से कार्य हैं, जिन्हें हम स्थगित करना चाहेंगे? तीसरा, वे कौन-से कार्य हैं जिनका हम पूर्ण-परित्याग करना चाहेंगे? जिन कार्यों का हम परित्याग करना चाहते हैं, उन्हें तत्काल ही निर्ममतापूर्वक त्याग दें । हमें अपने सर्व प्रमुख प्राथमिकता को भी तुरन्त ही विवेकपूर्वक निश्चित कर लेना चाहिए और जैसे ही यह कर लिया जाय, हमें तुरन्त काम में जुट जाना चाहिए । इसका अर्थ है, तुरन्त ही हमें अपनी सर्वप्रमुख प्राथमिकता वाले कार्य एवं योजना को पूरा करने में जुट जाना चाहिए । जैसे ही यह योजना पूरी होती है और अभी हमारे पास आज का समय शेष है, तो तुरन्त ही हमें अगले क्रम की प्राथमिक योजना को सम्पादित करने में जुट जाना चाहिए । इस तरह कार्य करते हुए दिन के अंत में हमें इस बात का संतोष होगा कि जो कुछ हमारी शक्ति एवं वश में था, वह सब हमने किया है । यदि हमने अपना दिन इस प्रकार व्यतीत किया है, तो हमें पश्चाताप नहीं होगा । कोई बात हमें दुखी नहीं करेगी और यदि यह जीवन का अंतिम दिन न भी हुआ तो भी हमें वह महान् संतोष एवं परिपूर्णता का बोध देने वाला दिन होगा । प्रत्येक दिन का पूर्णक्षमता से सदुपयोग एवं हाथ में ली गई योजनाओं को अपनी पूर्ण योग्यता से सम्पादित कर फल को सर्वसमर्थ ईश्वर के हाथों में सौंपना ही जीवन के परम संघर्ष में निश्चित विजय-प्राप्ति का राजमार्ग है । ❖ **(समाप्त)** ❖

वेदान्त-बोधक कथाएँ (८)

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी विश्वाश्रयानन्द जी ने वेदान्त के गूढ़-गहन तत्त्वों को अभिव्यक्त करनेवाली कुछ कथाओं को बँगला में लिखकर 'गल्पे वेदान्त' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया था। बाद में स्वामी अमरानन्द जी ने उसका आंग्ल रूपान्तरण किया। दोनों ही पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई हैं। उन्हीं कथाओं का हिन्दी अनुवाद हम धारावाहिक रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

उपनिषदों के कुछ पृष्ठ

इन्द्र और विरोचन

सभी जीवों के सृष्टिकर्ता प्रजापति ने एक बार कहा – "आत्मा जन्म तथा मृत्यु, भूख तथा प्यास और अन्य कष्टों से परे है। जो लोग गुरु की कृपा से इसकी अनुभूति कर लेते हैं, वे ब्रह्माण्ड का सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं।"

देवताओं और असुरों – दोनों ने ही प्रजापति की यह पवित्र घोषणा सुनी। देवताओं में अनेक सद्गुण थे, परन्तु वे भोगों की इच्छा रखते थे। और असुर तो लोभ की प्रतिमूर्ति ही थे। देवताओं और असुरों के राजा इन्द्र तथा विरोचन आत्मज्ञान का उपदेश लेने प्रजापति के पास गये।

इन्द्र और विरोचन दोनों ही उनके शिष्य हो गये। वे दोनों ब्रह्मचर्य का पालन और अपने गुरु प्रजापति की सेवा करते हुए उनके पास निवास करने लगे। वे गुरु के पास रहकर धैर्यपूर्वक उनके उपदेश-दान की प्रतीक्षा करने लगे। परन्तु बत्तीस वर्ष बीत जाने पर भी उन्होंने शिष्यों को कोई उपदेश नहीं दिया था। एक दिन गुरु ने उनसे पूछा – "बच्चो, तुम लोग किसलिये मेरे पास आये हो?"

उन्होंने उत्तर दिया – "आपने कहा है कि आत्मा के ज्ञान से ब्रह्माण्ड का सब कुछ प्राप्त हो जाता है। इसीलिये हम आपके पास सब कुछ पाने के लिये आये हैं।"

गुरु बोले – "वह जो आँखों में निवास करता है, उसी को आत्मा कहते हैं। वह मृत्यु और भय के परे है।" दोनों शिष्यों ने गुरुदेव की बात बड़े ध्यान से सुनी।

गुरु को लगा कि इन्हें मेरी बात समझ में नहीं आयी है, उन्होंने फिर कहा – "जाकर एक पात्र में थोड़ा-सा जल डालो। उस जल में अपना प्रतिबिम्ब देखो। उससे भी मेरे कथन का तात्पर्य समझ में न आये, तो पुन: आकर पूछ लेना।" इन्द्र और विरोचन ने वैसा ही किया और फिर वे लौटकर चले आये।

गुरु – "तुमने पानी में क्या देखा?"

शिष्यद्वय – "हमने उसमें अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखा। हमारे नख, केश आदि बड़े हो गये हैं।"

गुरु – "नख तथा केशों को काट-छाँटकर ठीक करो और अच्छे वस्त्र धारण करके एक बार फिर देखो।"

शिष्यों ने वैसा ही किया। लौटकर वे बोले – "अब हमारे समान ही हमारा प्रतिबिम्ब भी सुन्दर दिखता है।"

गुरु – "यह मृत्युहीन आत्मा है, जो भय के परे है।"

इस व्याख्या से सन्तुष्ट होकर दोनों शिष्य गुरु से विदा लेकर चले आये।

आत्मा या चेतना मन के दर्पण में प्रतिबिम्बित होती है। नेत्र आदि इन्द्रियाँ प्रतिबिम्बित चेतना के द्वारा चमकती हैं। प्रजापति के इस कथन का यही तात्पर्य था कि 'वह जो आँखों में निवास करता है ...।" बत्तीस वर्ष तक अध्ययन करने के बाद भी शिष्यगण इस सत्य की धारणा नहीं कर सके थे। प्रजापति को इस पर हँसी आ गयी। वे बुदबुदाये – "असुर हों या देवता, जो कोई भी शरीर के प्रतिबिम्ब को ही आत्मा समझेगा, उसका नाश हो जायेगा।"

विरोचन अपने गुरुदेव की उक्ति पर विचार करने लगे। उन्होंने सोचा – "शरीर तथा इसके अंग ही आँखों तथा जल में प्रतिबिम्बित होते हैं, अत: शरीर ही आत्मा है। शरीर सबल हो, तो ब्रह्माण्ड की सारी चीजें प्राप्त की जा सकती हैं। इसलिये शरीर की भलीभाँति देखभाल करनी चाहिये।"

विरोचन असुरों के बीच लौट आये और घोषणा की – "प्रजापति ने मुझे शिक्षा दी है कि शरीर ही आत्मा है। शरीर की देखभाल करो, तो तुम्हें सब कुछ प्राप्त हो जायेगा।" तब से असुरों का आदर्श हो गया – खाओ, पीयो और मौज करो। निरन्तर विलासिता में डूबे रहने के कारण वे लोग पूर्णत: अधार्मिक हो गये। आज तक श्रद्धाहीन तथा स्वार्थी व्यक्ति को असुर-स्वभाव कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिये शरीर ही आत्मा होती है और उसके लिये शरीर से अधिक मूल्यवान दूसरा कुछ नहीं होता।

इन्द्र भी अपने राज्य की ओर लौट रहे थे। वे भी इस बात पर प्रसन्न थे कि उन्होंने आत्मा को जान लिया है। परन्तु उनके आनन्दपूर्ण मन:स्थिति पर एक अनिश्चितता की छाया आ पड़ी। उन्होंने सोचा – "शरीर में हर परिवर्तन के साथ ही हमारे प्रतिबिम्ब में भी बदलाव आ जाता है। कपड़े बदलने पर भी तो ऐसा ही होता है। और यदि शरीर ही नष्ट हो जाय, तब तो उसका कोई प्रतिबिम्ब ही नहीं रहेगा। तो यह प्रतिबिम्ब भला आत्मा कैसे हो सकती है, क्योंकि प्रजापति के कथनानुसार वह मृत्यु के परे है?" उनका मन शंका तथा खेद से परिपूर्ण हो उठा। उन्होंने अपनी यात्रा को स्थगित

करके पुन: प्रजापति के पास लौटने का निर्णय किया।

प्रजापति ने विस्मय-सा प्रकट करते हुए कहा – "इन्द्र, तुम लौट क्यों आये? तुम तो सन्तुष्ट होकर चले गये थे।"

इन्द्र ने कहा – "महाराज, लगता है कि मैंने शरीर को ही आत्मा समझकर भूल की है। यह तो कपड़े बदलने से भी बदल जाता है। और यदि शरीर मर जाता है, तो उसका प्रतिबिम्ब भी चला जाता है। अत: इस प्रतिबिम्ब को आत्मा समझना उचित नहीं प्रतीत होता।"

प्रजापति उन्हें आश्वासन देते हुए बोले – "इन्द्र, तुम ठीक कहते हो। मैं तुम्हें सब कुछ बताऊँगा, परन्तु तुम यहाँ और भी बत्तीस साल निवास करो। अन्यथा तुम मेरे कथन की धारणा करने में समर्थ नहीं हो सकोगे।"

साल-पर-साल बीतते गये। इन्द्र ने और भी बत्तीस सालों तक अपने गुरु की सेवा की। उसके बाद एक दिन गुरु ने स्वयं ही कहा – "वत्स, जो तुम्हारे स्वप्नों में विचरण करता हुआ अनेक प्रकार से भोग करता है, वही आत्मा है।" इन्द्र ने सन्तुष्ट होकर अपने गुरु से विदा ली और लौट पड़े। अब उनका मन काफी सूक्ष्म हो गया था और उनके लिये पूर्णत: नये विचारों का एक जगत् खुल गया था। वे सोचने लगे – "नि:सन्देह स्वप्न-काल में हम बहुत-सी चीजों का भोग करते हैं। शरीर के दोष हमारे उस अवस्था के भोगों को प्रभावित नहीं करते। पर दुख तो स्वप्न में भी हैं। कभी-कभी देखते हैं कि शत्रु हमें मारने का प्रयास कर रहे हैं, या एक बाघ हमारे पीछे पड़ा हुआ है, या कोई अन्य संकट हम पर आया हुआ है। अत: स्वप्न में विचरण करनेवाला भी भय तथा पीड़ा से मुक्त नहीं है। वह भला आत्मा कैसे हो सकता है?"

इन्द्र पुन: स्वर्गलोक के मार्ग से ही लौट पड़े। वे अस्पष्ट धारणा लेकर वहाँ नहीं जाना चाहते थे। गुरु के पास लौट कर उन्होंने उनसे अपनी शंका बतायी। गुरु ने उनसे बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचारी का जीवन बिताने को कहा। इन्द्र ने गुरु की आज्ञा का पालन किया, क्योंकि आत्मा के विषय में यह शंका उन्हें परेशान किये हुए थी।

इस तीसरे क्रम के अन्त में, अर्थात् कुल ९६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य एवं तपस्या का जीवन बिताने के बाद प्रजापति ने इन्द्र को प्रेम से समझाया – "वत्स, गहन निद्रा की अवस्था में हम स्वप्न के परे जाकर आनन्द से परिपूर्ण हो जाते हैं। हमारी उस अवस्था का अस्तित्व ही आत्मा है।"

अब इन्द्र प्रसन्न हो गये। गहन निद्रा की अवस्था में हम समस्त कष्टों के परे चले जाते हैं, अत: इन्द्र ने निष्कर्ष निकाला कि गहन निद्रा का भोग करनेवाला अवश्य आत्मा ही होगा। एक बार फिर वे सन्तुष्ट होकर अपने राज्य की ओर लौट पड़े।

परन्तु इस बार फिर उनके मन में एक शंका उत्पन्न हुई। एक बार पुन: वे लौटे और गुरु के पास पहुँचकर वे बोले – "गहन निद्रा में सोया हुआ व्यक्ति अपने बारे में सचेत नहीं प्रतीत होता। वह अपने परिवेश के बारे में भी सजग नहीं होता। ऐसा लगता है मानो उसका नाश हो गया हो। उस अवस्था को सर्वोच्च लक्ष्य अर्थात् आत्मा कहना कठिन है।"

प्रजापति बोले – "तुम ठीक कहते हो। गहरी निद्रा में सोया हुआ व्यक्ति सचमुच ही आत्मा की अनुभूति नहीं करता। मैं तुम्हें सब कुछ विस्तार से बताऊँगा, परन्तु उसके लिये तुम्हें यहाँ पाँच साल और ठहरना होगा।" ९६ वर्षों की तपस्या से इन्द्र का मन सूक्ष्म तत्त्वों की धारणा करने में सक्षम हो गया था, परन्तु सर्वोच्च तत्त्व की अनुभूति के लिये उसमें और भी सूक्ष्मता तथा शुद्धता लाना आवश्यक था।

इस चौथे दौर के अन्त में प्रजापति ने उन्हें सूक्ष्मतम तत्त्व अर्थात् आत्मा का ज्ञान दिया। प्रजापति बोले – "जाग्रत, स्वप्न तथा निद्रा की अवस्थाएँ शरीर के परे नहीं हैं, भले ही वह स्थूल शरीर हो या सूक्ष्म। परन्तु आत्मा इस मर्त्य शरीर के परे है। शरीर के माध्यम से आत्मा विभिन्न वस्तुओं का भोग करता है। शरीर सुख तथा दुख के दायरे में आता है, परन्तु आत्मा नहीं, क्योंकि वह समस्त नश्वरता के परे है। उस आत्मा को कोई भी आबद्ध नहीं कर सकता।"

हम लोग अपनी आँखों से पृथक् हैं, इसीलिये हम लोग अपनी आँखों से देख पाते हैं। हम अपने मन से पृथक् हैं, इसीलिये हमारे लिये इसके द्वारा सोच पाना सम्भव है। जब हम जान लेते हैं कि सार रूप में हम अपने शरीर तथा मन से पृथक् हैं, तब हम मानो आत्मज्ञान के द्वार पर पहुँच जाते हैं। परन्तु इस ज्ञान के लिये पूर्व शर्त है वैराग्य या अनासक्ति। इन्द्र के सुदीर्घ-कालीन तपस्याओं ने उन्हें यथेष्ट वैराग्यवान बना दिया था और इसीलिये वे इस दुर्लभ ज्ञान को पा सके।

सत्यकाम जाबाल

ऋषि हरिद्रुमत के पुत्र गौतम वैदिक काल के एक प्रसिद्ध ऋषि थे। वे वैदिक साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे और उनके तपोवन या गुरुकुल में बहुत-से छात्र पढ़ते थे।

सत्यकाम नामक एक छोटे बालक ने अपनी माँ जबाला के समक्ष गौतम ऋषि के तपोवन में जाकर अध्ययन करने की इच्छा व्यक्त की। सत्यकाम जबाला की इकलौती सन्तान था, तथापि वह तत्काल राजी हो गयी। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई कि सत्यकाम सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक है।

सत्यकाम जानता था कि गौतम ऋषि उसे अपने गुरुकुल में प्रवेश देने के पूर्व अवश्य उसका कुल-गोत्र आदि जानना चाहेंगे, अत: वह बोला – "माँ, मेरा वंश-परिचय बता।

माँ संकोच में पड़ गयी। उन्हें नहीं पता था कि सत्यकाम का पिता कौन है। उनका तो विवाह ही नहीं हुआ था। सत्यकाम उनकी अवैध सन्तान था और उन्हें चिन्ता थी कि इस कारण शायद उसे वेदों के अध्ययन का अधिकारी ही न माना जाय। अपने पुत्र के सम्मुख इस बात को प्रकट करना उनके लिये बड़े लज्जा की बात थी।

जबाला ने मन-ही-मन सोचा – "सत्यकाम को यह जानकर आघात पहुँचेगा कि वह एक अविवाहित माता-पिता की सन्तान है। इसके अतिरिक्त सत्यकाम जब यह बात गौतम ऋषि को बतायेगा, तो वे निश्चित रूप से भड़क उठेंगे और तपोवन के छात्रगण भी इसे नैतिक रूप से अनुचित मानेंगे। जो कोई भी मेरी कहानी सुनेगा, वह निश्चय ही मुझसे और मेरे पुत्र से घृणा करेगा।"

जबाला थोड़ी देर तक पशोपेश में पड़ी रही। परन्तु इसके बाद उसने सत्य बोलने का संकल्प किया, परिणाम चाहे जो भी हो। वह अपने पुत्र से सब कुछ सच-सच बता देगी। उसने सत्यकाम का सिर चूमा और बोली – "बेटा, अपनी युवावस्था में मैं अत्यन्त निर्धन थी और अनेक स्थानों पर अनेक लोगों की दासी के रूप में सेवारत रही। तुम्हारी माँ ने कभी विवाह नहीं किया। मेरा नाम जबाला है, अतः ऋषि को बता देना कि तुम्हारा नाम सत्यकाम जाबाल है।

सत्यकाम ने माँ से विदा ली और गौतम ऋषि के तपोवन की ओर चल पड़ा।

सत्यकाम जब तपोवन में पहुँचा, तो सूर्यास्त हो रहा था और छात्रगण यज्ञ की अग्नि सजाने में व्यस्त थे। उस गोधूलि की वेला में सत्यकाम ने ऋषि के चरणों में प्रणाम किया। स्पष्टतः वह अपनी सुदीर्घ यात्रा से थका हुआ था।

छात्रों ने अपनी संध्या की उपासना समाप्त की और तब तक सत्यकाम ने थोड़ा-सा विश्राम कर लिया। इसके बाद ऋषि के बुलाने पर सत्यकाम बोला – "महाराज, मैं एक ब्रह्मचारी के रूप में इस तपोवन में रहना चाहता हूँ। कृपया मुझे अपने एक शिष्य के रूप में स्वीकार करें।"

गौतम ने उसे हृदय से आशीर्वाद देते हुए पूछा – "तेरा गोत्र क्या है बेटा?"

सत्यकाम की माता ने उसे जो कुछ बताया था, वह सब उसने ऋषि को सुना दिया और अपनी माँ से अपना कुल का उद्भव बताते हुए बोला – "जबाला मेरी माँ का और सत्यकाम मेरा नाम है, अतः मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।"

सत्यकाम जाबाल और ऋषि गौतम

यह एक अत्यन्त विस्मयजनक स्वीकृति थी। गौतम ने बालक की ओर देखा। वह उन्हें पवित्रता और शान्ति की प्रतिमूर्ति प्रतीत हुआ। ऋषि अपने आसन से उठे और आनन्द से बालक को आलिंगन में जकड़ लिया। उसके बाद वे बोले – "बेटा, होम के लिये समिधा ले आ। मैंने तुझे अपना शिष्य बनाने का निर्णय ले लिया है। तुझमें सच्चा ब्राह्मणत्व है, क्योंकि तू सत्य से विचलित नहीं हुआ। केवल सच्चा ब्राह्मण ही निर्भीकता के साथ ऐसा कटु सत्य बोल सकता है।"

यह जबाला और उसके पुत्र सत्यकाम की विजय थी। उन्होंने सत्य की पताका के नीचे अपना विजय-अभियान किया। सत्यकाम को गौतम ऋषि की अन्तरंग शिष्य-मण्डली में सम्मिलित कर लिया गया और यथासमय वह ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित हुआ।
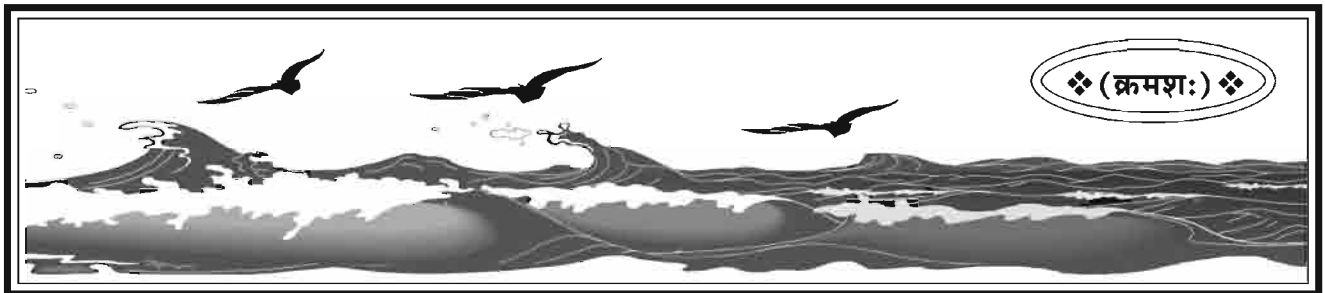
मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(३६) सबसे तप ये कठिन कठोरा

एक बार एक व्यक्ति ने स्वामी रामतीर्थ से प्रश्न किया – "मैंने धर्मग्रन्थों में पढ़ा है कि प्राचीन काल में ऋषि-मुनि ही नहीं, राक्षस भी वन में घोर तपस्या कर भगवान को प्रसन्न करते थे, मगर आज कोई भी व्यक्ति तपस्या-रत दिखाई नहीं देता। ऐसा क्यों है?"

स्वामीजी ने कहा – "इसके उत्तर में मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। एक पहलवान ने अन्य पहलवानों के बाहुओं पर गुदना गुदा हुआ देखा, तो एक नाई से अपने बाहुओं पर भी गोदना गोदने को कहा। नाई ने जब अपनी सामग्री निकाली, तो पहलवान बोला – "मेरी बाहु पर शेर का चित्र बनाना।" "ठीक है !" – कहकर जब नाई ने उसकी बाहु पर गोदने के लिए हाथ बढ़ाया, तो पहलवान बोला – "सबसे पहले पूँछ बनाना, मगर वह बहुत छोटी होनी चाहिए, क्योंकि कुत्ते पालनेवाले अपने कुत्ते की पूँछ इसलिये छोटी रखते हैं, ताकि वह शक्तिशाली बने।" नाई ने उसके बताये अनुसार छोटी-सी पूँछ बना दी। पहलवान ने पूछा – "अब क्या बनेगा?" नाई के – "कान" – बताने पर वह बोला, "कुत्ते पालनेवाले कुत्ते को ज्यादा सुनाई दे, इस वजह से कान भी छोटे करवा लेते हैं। इसलिए दोनों कान भी छोटे रखना।" नाई द्वारा छोटे कान गोदने के बाद पहलवान बोला, "अब तू कमर बना, मगर उसे भी छोटी ही निकालना, क्योंकि पतली कमर को शेर के कमर से उपमा दी जाती है।" "बस, मैं समझ गया" – कहकर नाई ने शेर की इतनी छोटी आकृति बनायी कि दिखाई ही नहीं देती थी।"

यह कहानी सुनाने के बाद स्वामीजी ने कहा – "जानते हो यह कहानी मैंने क्यों सुनाई और नाई ने छोटी आकृति क्यों निकाली थी ! इसलिए कि नाई जान गया था कि पहलवान दूसरों की देखादेखी गुदना गुदवाना चाहता है, जबकि उसमें सुई का चुभन सहने की क्षमता नहीं थी। ईश्वर भी कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, जो बिना कष्ट के प्रसन्न हो जायें। तपस्या एक कठोर साधना है और उसे करना इतना आसान नहीं कि हर कोई सहजता से कर सके। उसके लिए भूख-प्यास, रात-दिन, ठण्ड-गरमी किसी का ख्याल न करके बरसों तक एक ही मुद्रा में रहकर शरीर को कष्ट देना पड़ता है। यही कारण है कि वर्तमान में कोई भी मनुष्य तप में लीन दिखाई नहीं देता।

(३६) रहिमन विपदा भी भली

घटना १८८८ ई. की है। संन्यासी वेशधारी स्वामी विवेकानन्द जी कोलकाता के वराहनगर-मठ से उत्तर भारत की यात्रा पर निकल पड़े। काशीधाम पहुँचकर उन्होंने वहाँ बाबा द्वारकादास के आश्रम में सात दिनों तक निवास किया था। उनके आगमन का समाचार सुनकर लोग बड़ी संख्या में आकर उनसे मिलने लगे। ध्यान, जप तथा शास्त्र-चर्चा में स्वामीजी का समय व्यतीत होने लगा।

एक दिन स्वामीजी दुर्गावाड़ी के मन्दिर से देवी के दर्शन करके लौट रहे थे। उनका लम्बा चोंगा देखकर बन्दरों का एक दल उनके पीछे लग गया। बात यह भी कि चोंगे की जेब में स्वामीजी ने कुछ भुने चने रखे थे, जिसकी गन्ध पाकर वे उनका पीछा कर रहे थे। उन्हें देखकर स्वामीजी ने लम्बे-लम्बे डग भरना शुरू किया। बन्दरों ने अब उसी गति से पीछे आना शुरू किया। बन्दरों से छुटकारा पाने के लिये जब स्वामीजी ने दौड़ना शुरू किया। तब बन्दरों ने उनका वैसे ही अनुकरण किया। दौड़ते-दौड़ते स्वामीजी की साँस फूलने लगी, परन्तु बन्दर तो बन्दर ही थे, उनका पीछा छोड़ने का नाम नहीं ले रहे थे।

संयोग से एक वृद्ध साधु सामने से आ रहे थे। उन्होंने स्वामीजी को रोककर कहा – "ठहरो, बन्दरों से डरो नहीं, बल्कि दृढ़तापूर्वक उनके सामने खड़े हो जाओ।" इन शब्दों को सुन स्वामीजी बन्दरों के सामने डटकर खड़े हो गये। तब बन्दर ठिठककर रुक गये। अब डरने की बारी बन्दरों की थी। थोड़ी देर रुककर वे तितर-बितर होकर भाग गये। स्वामीजी ने इस घटना से शिक्षा ली की जीवन में विपत्तियाँ आने पर उनका डटकर सामना करना चाहिए। विघ्न-बाधाओं से डरकर भागने से काम नहीं चलेगा। विपत्तियाँ उन्हें ही घेरे रहती हैं, जो उनसे डरते हैं। जो अपने मन को दृढ़ रखकर विपत्तियों का सामना करने के लिए तत्पर रहता है, विपत्तियाँ उससे विमुख हो जाती हैं।

❑❑❑

आत्माराम की आत्मकथा (२३)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसके अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

अमृतसर की अन्य घटनाएँ

वहाँ (अमृतसर में) रहते समय एक मजेदार घटना हुई थी – धर्मशाले में जाते ही पता चला कि मेरे पास के कमरे में एक साधु रहते हैं। परन्तु पूरा सप्ताह बीत जाने पर भी उनके दर्शन नहीं हुए। उनके कमरे पर हमेशा ताला लटकता रहता था। दिन में कभी उसे खुला नहीं देखा। बहुत रात गये 'खट' की आवाज होती, बस, उसके बाद सब शान्त। और सुबह होते ही फिर ताला बन्द होने की आवाज आती। जाड़ों के दिन थे और आलस्य भी था, इसीलिये झट से उठकर उनकी श्रीमूर्ति का दर्शन करूँ – ऐसी इच्छा भी नहीं हुई।

हफ्ते भर बाद एक दिन सुबह देखा – साधु का दरवाजा खुला है और वे भीतर उपस्थित हैं। कुछ देर प्रतीक्षा करते ही सुनहरे फ्रेम का चश्मा लगाये, गैरिक वस्त्र और ऊपर से (जाड़े का मौसम होने के कारण) कश्मीरियों के समान लोई का लम्बा चोला पहने एक संन्यासी बाहर आकर बोले – "अरे भाई, कब आये?" मैंने कहा – "वाह ! मैं सोच रहा था कि न जाने कितने बड़े 'योगिराज' मेरे पास के कमरे में रहते हैं। जो दिन के समय अदृश्य हो जाते हैं और गहरी रात में सबके अगोचर कमरे में आते हैं और सुबह फिर अदृश्य हो जाते हैं। परन्तु अब देख रहा हूँ कि यह तो आप हैं ! मुझे यहाँ आये हफ्ते भर से अधिक हो गया, लेकिन आपके दर्शन का सौभाग्य नहीं हुआ।"

प्रिय महाराज (स्वामी परमात्मानन्द) बोले – "हाँ, मैं भी सोच रहा था कि मेरे पास के कमरे में कौन ठहरे हैं? दरवान ने बताया भी था। लेकिन ... लेकिन ... (थोड़े संकुचित होकर) मुझे तो भाई भिक्षा करके खाना पड़ता है, यहाँ तो केवल रहने भर की जगह दी है।"

मैं – "वह तो मैं समझ गया। मेरे लिए आपको चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। लेकिन भिक्षाटन क्या सूर्योदय से लेकर रात के बारह बजे तक चलता है?"

वे कहने लगे – "नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है।"

इसके बाद से मैं दिन के अधिकांश समय और संध्या के बाद भी उनको आसन पर हाजिर देखता।

वहाँ की एक अन्य घटना, जिसने मेरे अन्तर को बहुत चोट पहुँचायी थी और जिससे मुझे बड़ी शिक्षा मिली थी, वह संक्षेप में इस प्रकार है – एक दिन मैं अमृतसर (सरोवर) के निकट एक हिन्दू-बहुल मुहल्ले में भिक्षा करने गया। दोपहर का बारह या एक बजा होगा। गली में घुसकर कुछ दूर जाते ही देखा – एक दुमंजले मकान की खिड़की के किनारे दो स्त्री-पुरुष आपस में बातें कर रहे हैं। नीचे का द्वार बन्द था। भिक्षार्थी की गुहार – "नारायण हरि !" – कहकर मैं दरवाजे के सामने खड़ा हो गया। कोई उत्तर न मिलने पर परम्परा के अनुसार मैंने दुबारा कहा – "नारायण हरि !" (अनेक संन्यासी तीन बार भी पुकारते हैं और कोई उत्तर न मिलने पर आगे बढ़ जाते हैं, परन्तु अधिकांश दो बार ही पुकारते हैं।)

जैसे ही दुबारा गुहार लगायी, ऊपर से स्त्री-पुरुष दोनों जोर की आवाज में एक साथ चिल्लाने लगे – "ऐ चोर, ऐ दुष्ट, चल भाग, चल भाग।" मैं तो अवाक् रह गया, सोचा – चला जाऊँ। परन्तु अगले ही क्षण मन में आया – ऐसे चले जाने से तो लोग सचमुच ही मुझे चोर या दुष्ट समझेंगे, इसलिए अन्त में क्या होता है – यह देखने और जो भी हो उसे सहन करने का दृढ़ निश्चय लिये मैं खड़ा रहा। आसपास के स्त्री-पुरुष निकल आये और मेरी तरफ उँगली दिखाकर और भी जोर से चिल्लाते हुए कहने लगे – "दुष्ट ! दुष्ट ! चोर ! यह रहा, यहाँ खड़ा है।" मैं स्थिर होकर खड़ा-खड़ा प्रहार या वैसे ही कुछ की प्रतीक्षा कर रहा था। अमृतसर में इस प्रकार अकल्पनीय रूप से अपमानित होने पर यह सोचकर थोड़ी हँसी भी आ रही थी कि आर्यभूमि पंजाब में संन्यासी द्वारा भिक्षा माँगने से ऐसी हालत भी होती है। करता भी क्या ! 'जगदम्बा की जो इच्छा !' देखें, उन्होंने पुन: किस परीक्षा में डाला है ! – "माँ, तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो !"

पास के मकान से दो-तीन वृद्धाएँ तथा एक वृद्ध सिक्ख निकल कर कभी मेरी ओर देख रहे थे और कभी उस दम्पत्ति की ओर। फिर कहने लगे – "साले आर्य ! साधु ने भिक्षा माँगी और इसके लिये तू उन्हें 'चोर-दुष्ट' कहता है ! आग लगे तेरे मुँह में ! ... आइये महाराज, हमारे घर चलिए। वे आर्यसमाजी हैं, उनके मकान में भिक्षा माँगने क्यों गये थे?"

एक वृद्धा बोली – "छी ! छी ! देखो तो सही ! कहाँ तो सन्त को अन्न दोगे, उसकी जगह बेकार ही गाली देना, चोर

कहना ! न देना हो, तो कह देते कि 'श्रद्धा नहीं है' ! ये लोग हमारे मुहल्ले में आये ही क्यों हैं?'' ...

और भी बहुत-से लड़के-लड़कियों, युवक-युवतियों, स्त्री-पुरुषों की भीड़ लग गई। वे दोनों जल्दी से खिड़की बन्द करके हट गये। मैंने देखा कि वे वृद्ध बहुत गरम हो गये हैं और उन लोगों को असंख्य गालियाँ दे रहे हैं। मैंने कहा – ''सरदारजी, शान्त हो जाइए ! मैं एक भिक्षुक संन्यासी हूँ, इसीलिए वह बात सुननी पड़ी, इससे कुछ आता-जाता नहीं, क्योंकि मैं चोर भी नही हूँ, दुष्ट भी नहीं हूँ, मैं सत् हूँ।''

वृद्ध बोले – ''हम समझते हैं महाराज, लेकिन सत्पुरुषों का इस प्रकार अपमान करने का उन्हें साहस कैसे हुआ? इन लोगों ने धर्म का सत्यानाश किया है। आइये, हमारे घर आइये।'' – यह कहकर वे मेरा हाथ पकड़कर अपने मकान के भीतर ले गये और बड़े यत्न के साथ भरपेट रोटी-तरकारी खिलाया। इसके बाद वे बोले – ''रोज आइयेगा महाराज, हम चार-पाँच घर हैं, आपके लिए भिक्षा रख देंगे।''

मैंने हृदय से उनकी कल्याण-कामना की और मन्दिर में लौटकर बैठे-बैठे पूरी घटना पर विचार करने लगा – बहुत सी बातों पर, विशेषकर 'जगदम्बा' पर अभिमान हुआ और उन्हीं से उन्हीं के विरुद्ध शिकायत भी की ! और उस दिन से निश्चय किया कि अब से भिक्षा (अन्न आदि) नहीं माँगूगा। ईश्वर की इच्छा से, बिना माँगे अपने आप ही जो कुछ आ जायेगा, केवल उसी को ग्रहण करूँगा। इससे यदि मृत्यु भी हो, तो हो जाय ! ... यहाँ पर यही शिक्षा तो दी जाती है। ग्रन्थ-साहब बारम्बार यही शिक्षा तो दे रहे हैं – सन्त-सेवा करो, साधु-सेवा करो और उसी के द्वारा ही परम पुरुषार्थ – मोक्षलाभ होता है। और आर्यसमाज समग्र साधु समाज की निन्दा सिखा रहा है। उनकी शिक्षाओं के मूल में ही तो दोष-दर्शन है। और आश्चर्य की बात यह है कि एक संन्यासी ही उस समाज के संस्थापक हैं। मैं यह नहीं कहता कि साधु-समाज निर्दोष है। इस समाज में सचमुच ही कई दोष प्रविष्ट हो चुके हैं और आज भी हो रहे हैं, लेकिन घृणा और निन्दा करना ही क्या किसी के दोष दूर करने के उपाय हैं? समझा – इन लोगों ने ईसाई तथा मुसलमान प्रचारकों का मार्ग पकड़ा है। आर्यसमाज – औपनिषदिक या बौद्ध पन्थ नहीं है। ... पर उनमें क्या सभी ऐसे हैं? ऐसा तो नहीं लगता। उनसे घनिष्ठ सम्पर्क हुए बिना इसे नहीं समझा जा सकता। ठीक है, ऐसा मौका आने पर ही सच्चाई समझी जा सकेगी। पंजाब में मेरा यह पहली बार आना हुआ है, अत: सहसा कोई धारणा बना लेना उचित नहीं होगा। सभी लोग समान नहीं हैं और सब लोग बुरे भी नहीं हो सकते। यहाँ तक कि उत्कट या विध्वंसक शिक्षा पाकर भी अनेक लोगों का स्वभाव वैसा नहीं होता। ईसाई या मुसलमानों में भी कितने ही अच्छे, शान्त स्वभाव के, निरंहकारी और प्रेमी लोग हैं।

इसके बाद भिक्षा करने नहीं गया। जीवन को पूर्णत: जगदम्बा की कृपा पर ही निर्भर करके ही रहने का निश्चय किया। वे निश्चय ही देखेंगी। मेरी गर्भधारिणी माता ने अपनी छाती चीरकर रक्त देकर उनके श्रीचरणों में मुझे समर्पित किया था। यह शरीर उन्हीं का है, रखना चाहेंगी तो रहेगा !

एक दिन काँग्रेस देखकर लौट रहा था। रास्ते में देखा – बड़ी-बड़ी दाढ़ियों से युक्त ब्रह्मचारी सुरेन – 'महाराज ! महाराज !' – कहकर पुकार रहे हैं।

मैंने पूछा – ''अरे, कहाँ से?''

सुरेन – ''दो-तीन दिन हुए लाहौर से आया हूँ। आप कहाँ ठहरे हैं?''

मेरे धर्मशाले का पता बताने पर वे बोले – ''आज ही लाहौर लौट जाऊँगा।''

इसके चार-पाँच दिन बाद उनका एक अर्जेंट पत्र आया – ''तुरन्त चले आइये, स्वामी सेवानन्द आश्रम छोड़कर पागल की तरह न जाने कहाँ चले गये हैं। सब लुट गया है, मैं अकेला विपत्ति में पड़ गया हूँ। निरुपाय हूँ। शीघ्र आइये।''

लाहौर का सेवाश्रम

चिट्ठी पाकर उसी दिन लाहौर गया। वहाँ अनारकली बाजार के गेट पर ब्रह्मचारी सुरेन से भेंट हो गई। वे किराये के मकान में स्थित सेवाश्रम में ले गये। कुछ बेंच, ब्लैक बोर्ड, दो खाट तथा एक कुर्सी के अलावा कुछ होम्योपेथी की दवाइयाँ पड़ी थीं और बाकी सब लुट गया है। सुना कि स्वामी सेवानन्द जाते समय 'लूट-ले, लूट-ले' – कहते हुए सब लुटाकर चले गये। पता नहीं चल रहा है कि कहाँ गये। वे एक ही भवन में एक दातव्य चिकित्सालय, बालिकाओं के लिये एक धात्री-विद्यालय, छोटे बच्चों के लिए स्कूल आदि चला रहे थे। उनके इस कार्य में महिम बाबू तथा ब्र. प्राणेश-कुमार ने खूब उत्साहित किया था। वहाँ सेवानन्द जी की बड़ी प्रतिष्ठा थी। मात्र आठ आने फीस लेकर भी महीने में पाँच-सात सौ रुपये आ जाते थे। और अयाचित रूप से दान भी आ जाता था।

वहाँ चिन्ताहरण भी उनके साथ थे। बाद में ब्रह्मचारी सुरेन भी पहुँच गये थे। सुना – लाहौर में गोलीबारी के समय उन्होंने एक दल के अगुआ होकर मेहरबान सरकार को प्रार्थना-पत्र पेश करने के लिये काँग्रेस से अलग एक सभा भी की थी। परन्तु काँग्रेसी एक विराट् जुलूस के साथ जयध्वनि करते हुए, 'वन्दे मातरम्' – कहते हुए जब मैदान में पहुँचे, तब इनके दल के सभी लोग भागकर काँग्रेस की जुलूस में चले गये, उनके मना करने पर भी नहीं ठहरे। गोली चलने पर जब वे वहाँ से लौट आये, तो लोग उन पर क्रुद्ध होकर

उनके विरोधी हो गये कि विपत्ति के समय छोड़कर चले आये। इसके बाद पुलिस भी उन्हें पकड़कर ले गई, पर एक परिचित सेवा-निवृत्त अंग्रेज मजिस्ट्रेट के कहने पर उन्हें छोड़ दिया। वस्तुत: वे निर्दोष ही थे। ऐसा हुल्लड़ या शोरगुल उन्हें बिल्कुल भी पसन्द न था। वे सारे कार्य शान्तिपूर्वक करने के पक्ष में थे, परन्तु पूर्वोक्त कारण से कुछ और ही हो गया। अस्तु, जेल से लौटकर देखा महिम बाबू तथा प्राणेश-कुमार चले गये हैं; चिन्ताहरण और ब्रह्मचारी सुरेन भी नहीं हैं। जिनको वे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और जिनके उत्साह से यह कार्य हुआ था, उनमें से किसी को न देख, वे दु:ख-शोक तथा क्रोध से उन्मत्त-से हो गये थे। फिर किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर उस प्रकार 'लूट-ले, लूट-ले' कहकर सब लुटा दिया। वैसे इस घटना के काफी दिनों बाद – अमृतसर काँग्रेस के समय ऐसा हुआ। ब्रह्मचारी सुरेन तथा अन्य स्थानीय लोगों से जो कुछ सुनने को मिला, उसका सार-संक्षेप यही है। बाकी सब उन दिनों के अखबारों में छपा था।

जाकर देखा ब्रह्मचारी सुरेन भोजन के अभाव में कातर थे। बोले – पास में एक पैसा तक नहीं है और मकान का दो महीने का किराया बाकी है, मकान-मालिक भाड़े के लिये तंग कर रहा है। उसकी और एक दूध-दही-विक्रेता की सहायता से, लोगों से पास विनय-विनती आदि करके कुछ पुस्तकें आदि मिली हैं, बाकी सब गया।

ब्रह्मचारी सुरेन ने चेष्टा करके अपने एक पूर्व-परिचित पी.डब्लू.डी (P.W.D) के ओवरसियर के मकान के निचले तल्ले में मुफ्त एक हॉल की व्यवस्था की। यहाँ से सब कुछ उठाकर उस कमरे में ले गये। मकान-मालिक को एक महीने का किराया देकर बाकी के लिए क्षमा माँगी और उन्होंने बाकी किराया छोड़ दिया। दण्ड हुआ तो मेरा ही – क्या करता! अमृतसर से और दूर-दूर के गाँवों से बहुत-से लोग मुझसे दवा लेने आते। कुछ दिन तक चिकित्सालय चलाया। सामान्य विद्या से जैसा हो सका, दवा आदि देता रहा।

इसी बीच ब्र. सुरेन स्वामी सेवानन्द की खोज करने लगे। लेकिन निरन्तर दो महीने तक चेष्टा करने पर भी वे सफल नहीं हुए। पास के रुपये समाप्त होने को आये – धर्मार्थ पेटी में जो दो-चार रुपये आते, उन्हें ब्र. सुरेन रखते। वे इसी प्रकार जाने का खर्च एकत्र कर रहे थे।

एक सरदारजी, जो सरकार के लेखा-विभाग में अधिकारी थे, रोगी होकर आये। स्वस्थ हो जाने पर आपस में परिचय तथा प्रीति हुई। जब उन्हें हमारी आर्थिक कष्ट की जानकारी हुई, तो वे स्वेच्छापूर्वक हम दोनों को एक समय का भोजन देने लगे। किसी दिन मैं और किसी दिन ब्र. सुरेन जाकर उसे ले आते। और भी एक सज्जन बीच-बीच में खिलाते।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द

जितेन्द्र कुमार तिवारी

हैं सुगन्ध श्रीरामकृष्ण, तो पवन विवेकानन्द ।
दशों दिशाएँ सुरभित उनसे,
फैला जग आनन्द ।।

परमहंस की दिव्य ज्योति से,
आलोकित जग सारा,
शिष्य विवेकानन्द गगन में,
ज्योतित एक सितारा ।
सच्चा ज्ञान मिला धरती को,
जो था सबको प्यारा,
मस्तक ऊँचा हुआ देश का,
जागा भाग्य हमारा ।
खुले कपाट ज्ञान के जो थे,
अब तक पूरे बन्द ।
हैं सुगन्ध श्रीरामकृष्ण, तो पवन विवेकानन्द ।।

ज्ञान-सूर्य जब उदित हुआ तो,
घना अँधेरा भागा,
मंजिल दिखने लगी पास में,
और हृदय अनुरागा ।
टूट-टूटकर तब जा बिखरा,
भ्रम-विभ्रम का धागा,
विश्व-विजेता बनकर उभरा,
देश हमारा जागा ।
विजय सत्य को मिली, मनुज को
लक्ष्य मिला सानन्द ।
हैं सुगन्ध श्रीरामकृष्ण, तो पवन विवेकानन्द ।।

गीता का सन्देश हमेशा,
हमको है बतलाता,
जब-जब बढ़ते अत्याचारी,
और पाप बढ़ जाता,
तब-तब ईश्वर आते जग में,
बनकर भाग्य-विधाता,
श्रेष्ठ सपूतों की जननी है,
अपनी भारत-माता,
अखिल विश्व ने पाया इनसे,
ज्ञान सदा स्वच्छन्द ।
हैं सुगन्ध श्रीरामकृष्ण, तो पवन विवेकानन्द ।।

❑❑❑

स्वामी सेवानन्दजी ने अनारकली गेट के निकट सरकारी बाग के भीतर एक छोटा-सा शिव-मन्दिर, दो झोपड़ियाँ और कुछ जमीन लेकर पूज्य महाराज ब्रह्मानन्दजी के नाम रजिस्ट्री करा रखी थी। ज्ञात होने पर मैं देखने गया। जाकर देखा – एक नाथपन्थी साधु वहाँ रहते हैं। बताया – चौदह वर्ष से वहीं निवास कर रहे हैं। वह गाँजा और अफीम सेवन करनेवालों का अड्डा हो गया था, लेकिन ब्र. सुरेन की इच्छा है कि वहाँ एक कमरा लेकर धीरे-धीरे वहाँ मिशन की एक शाखा बनायें। काफी चेष्टा के बाद नाथजी ने एक कमरा खाली कर दिया, जिसकी आधी छत छप्पर से ढँकी थी और बाकी खुला हुआ था, कपड़े आदि की चोरी होने का भय था। पर नाथजी ने कहा – "चिन्ता की कोई बात नहीं, सब रख जाइए, कोई नहीं लेगा।" उनकी बात पर भरोसा रखकर वैसा ही किया। चिकित्सालय के कमरे में रहना कष्टकर हो गया था। वह काफी-कुछ गोदाम की तरह था, हवा आने का कोई रास्ता नहीं था।

इसी प्रकार चल रहा था कि एक दिन डॉ. पूर्णानन्दजी आ पहुँचे। पहले से कोई खबर नहीं भेजी थी। उनके साथ काफी सामान तथा रुपये थे। इसलिये मैं और डॉक्टर चिकित्सालय के कमरे में रहने लगे और ब्र. सुरेन उस झोपड़े में। १०-१२ दिन ठीक बीते – मैंने डॉक्टर को बहुत समझाया कि वे चिकित्सालय का भार लेकर उसे ठीक करें। डॉक्टर यह कहकर टाल गये कि पूज्य शरत् महाराज नाराज होंगे।

पूज्य शरत् महाराज को पत्र लिखा, उसमें उन्हें जमीन के बारे में सूचित किया। उन्होंने उत्तर दिया – "यदि सम्भव हो, तो स्वयं ही प्रयास करके उस जमीन का उद्धार कर सकते हो, मठ से कोई सहायता नहीं मिल सकती और न कोई आदमी ही भेजा जा सकेगा।

मैंने लाला दुलीचन्द से भेंट करके पूछा कि किस उपाय से इस जमीन का उद्धार हो सकता है?

उन्होंने कहा – "जबरदस्ती कब्जा कर लो।"

मैंने कहा – "साधु के लिये ऐसा करना असम्भव है।"

वे बोले – "तो फिर आप उसे नहीं पा सकते।"

सोच रहा था कि क्या किया जाय! इधर डॉक्टर कहने लगे कि सब कुछ ब्र. सुरेन को सौंपकर अमृतसर चलो। ब्र. सुरेन को एक पाँव की एड़ी में कुछ तकलीफ थी, हाल ही में आपरेशन कराया गया था। उनसे कहा और कार्य चलाने में अपनी असमर्थता जतायी, क्योंकि वहाँ केवल रहने के स्थान के सिवा और कुछ नहीं था। इस पर उन्होंने स्वयं भी चले जाने का निश्चय किया और बेंच तथा ब्लैक-बोर्ड एक रात्रि-पाठशाला को दे दिया। फिर दवाइयों, पुस्तकों आदि की लिस्ट बनाकर एक अपने पास रखी, एक (सेवानन्दजी के विश्वासपात्र) दूध-दही-विक्रेता धर्मदास को दी और एक प्रति पी.डब्लू.डी. के उन ओवरसियर को दे दी। सारा सामान इस शर्त के साथ उन्हीं के पास रख दिया गया कि स्वामी सेवानन्द के लौटने पर वे सब कुछ उन्हें सौंप देंगे।

एक ही दिन हम दोनों लाहौर से अमृतसर की ओर रवाना हुए। साथ में डॉक्टर भी थे। वे अमृतसर में ही ठहर गये और हम दोनों ऋषीकेश गये। लाहौर में अपनी क्षमता के अनुसार यथासाध्य करने का प्रयास किया था, पर उन दिनों सब सँभालकर पड़े रहने की मनोवृत्ति नहीं थी। ब्र. सुरेन स्वामी सेवानन्द के सहकर्मी थे, इस मामले में सारा उत्तरदायित्व उन्हीं का था। मैंने तो उन्हीं के बुलाने पर जहाँ तक हो सका था, तन-मन-धन से करने का प्रयास किया था। अस्तु।

कुछ दिनों तक ऋषीकेश में था। ब्र. सु. प्रतिदिन आकर महिम बाबू, प्राणेश कुमार और चिन्ताहरण के बारे में तरह-तरह की बातें सुनाते रहते। परन्तु मुझे उसमें जरा भी रुचि न थी। आखिरकार तंग आकर – "कनखल जा रहा हूँ" – उनसे केवल इतना ही कहकर मैं चला गया।

कनखल के सेवाश्रम में दो-तीन दिन बिताने के बाद गंगा के किनारे घण्टा-कुटीर में जाकर रहने लगा। उस समय वहाँ सेवाश्रम के भूतपूर्व कोठारी उपेन और ब्रदर महाराज (स्वामी मोक्षदानन्द) निवास करते थे। हम दोनों दो अलग कमरों में रहे और ब्रदर उपेन के कमरे के सामने बनी एक कृत्रिम गुफा में थे। एक दिन ब्रदर को तीन-चार बार बिच्छू ने काटा। सारी रात चुपचाप पीड़ा सहन करते रहे और हर बार काटने पर पास के बंगाली आश्रम के एक साधु से झड़वा आते, पर हममें से किसी को कुछ भी नहीं कहा। उनकी सहनशक्ति अद्भुत थी! मैंने कहा – "अभी वह स्थान छोड़ दीजिए। नीची जगह है, गर्मी में बिच्छू उसी में आश्रय लेने जायेंगे और यदि थोड़ी वर्षा हो गई, तो और भी अधिक घुसेंगे, पर ब्रदर बिल्कुल राजी नहीं हुए। अस्तु, कुछ दिन वहाँ रहकर सिद्धानन्दजी के आग्रह पर पुन: ऋषीकेश गया और पहले की कुटिया में ही निवास करने लगा। ❖ (क्रमशः) ❖

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (२०)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

(गतांक से आगे)

जीवात्मा (उत्तरार्ध)

एक ही जीव-देह में मानो दो पृथक् सत्ताओं का निवास है। शुद्ध साक्षी-स्वरूप आत्मा और कर्ता व भोक्तारूपी बुद्धि मानो दो पृथक् सत्ताएँ हैं। वैसे बुद्धि आत्मा की शक्ति से ही शक्तिमान है और उसके साथ अभिन्न प्रतीत होती है। कर्ता तथा भोक्ता-रूपी बुद्धि जीव है और साक्षीरूपी आत्मा ईश्वर है। जीव-देह के अन्दर निवास करनेवाले इन दो सत्ताओं की ओर इंगित करते हुए ही मुण्डक तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया गया है। – "एक ही आकृति के दो पक्षी एक ही वृक्ष की दो शाखाओं पर बैठे हुए हैं। उनमें से एक विभिन्न स्वादवाले फलों का रसास्वादन कर रहा है और दूसरा स्थिर भाव से केवल देख रहा है।"[१६] मानो व्यष्टि शरीर में कर्ता तथा भोक्ता जीव और साक्षी-स्वरूप ईश्वर – ये दो पक्षियों के समान हैं। कठ उपनिषद्[१७] में इनकी छाया तथा प्रकाश से तुलना की गयी है।

अस्तु। बुद्धिरूपी उपाधि से युक्त आत्मा ही जीव कहलाता है। उपनिषदों के फलभोगी पक्षी के समान ही जीव भी सुख-दुख-रूपी अपने कर्मफलों का भोग करता है। यह जीव ही मन, प्राण, इन्द्रियों तथा स्थूल शरीर को संजीवित करता है।

स्थूल शरीर तथा इन्द्रियों के माध्यम से जीव का बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क होता है। उसके बाद कामना-चालित जीव विभिन्न प्रकार के भले-बुरे करके पुण्य तथा पापों का संचय करता रहता है, जिनके सुख-दुख रूपी अवश्यम्भावी फल उसे वर्तमान या आगामी जन्मों में भोगने पड़ते हैं। इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर से होकर जीव का संसार-अभियान चलता रहता है। बुद्धि जब तक ईश्वर का जीवात्मा-रूपी प्रतिबिम्ब धारण करके विद्यमान रहती है, तब तक जीव के इस अनादि अभियान को विराम नहीं मिलता। आत्मज्ञान का उदय होने पर बुद्धि शून्य में विलीन हो जाती है। जब तक वैसा नहीं होता, तब तक जीव संसार में आबद्ध रहता है। इसीलिये उपनिषद् में स्वरूपगत आत्मज्योति की तुलना में कर्ता और भोक्तारूपी जीव को छाया कहा गया है। और इसीलिये जिस स्थूल शरीर तथा इन्द्रियों की करणता के कारण जीव बाह्य जगत् के सम्पर्क में आकर कर्म तथा उसके फलों की शृंखला में बद्ध होता है, उन्हें शास्त्रों में 'पापात्मक'[१८] और 'मृत्युरूपी'[१९] कहा गया है।

जाग्रत अवस्था में ही देह-इन्द्रियों की विशेष सक्रियता देखने में आती है; और केवल उसी अवस्था में जीव बाह्य जगत् के सम्पर्क में आता है। इसीलिये जाग्रत अवस्था में ही मानो जीव की एक विशेष मूर्ति अभिव्यक्त होती है। तब वह समग्र शरीर तथा मन के साथ एकात्म होकर स्थित रहता है। इस अवस्था में – स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण – इन तीन शरीरों रूपी तीन उपाधियाँ परमात्मा को आवरित रखती हैं। जाग्रत अवस्था में जीव की इस विशेष मूर्ति को शास्त्रों में 'विश्व' कहा गया है। यह विराट् पुरुष का एक आण्विक अंश है।

जीव स्वप्न की अवस्था में स्थूल शरीर तथा इन्द्रियों के चंगुल से मुक्त होकर बाह्य जगत् से विच्छिन्न हो जाता है। तब वह जाग्रत् अवस्था की अनुभूतियों से संगृहीत संस्कारों के उपादान से अपनी ज्योति के द्वारा एक स्वप्न-जगत् की रचना करता है और उसी में कर्ता व भोक्ता के रूप में विहार करता है।[२०] इस अवस्था में परमात्मा को आवृत्त करनेवाली दो उपाधियाँ हैं – कारण शरीर तथा सूक्ष्म शरीर। जीव-प्रकृति की यह एक पृथक् अभिव्यक्ति है। शास्त्रों में इसे 'तैजस्' कहा गया कहा है। इसकी समष्टि का नाम 'हिरण्यगर्भ' है।

प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) के समय बुद्धि के अस्तित्व तथा क्रिया का लोप हो जाने से उसके कार्य में विच्छेद आ जाता है। उस समय वह कारण अवस्था में लीन रहता है, पर उसका आत्मा के साथ अन्तरंग सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता।[२१] तब केवल कारण शरीर ही शुद्ध चैतन्य की एकमात्र उपाधि रह जाती है। इसके पूर्व हम देख आये हैं कि अव्यक्त विश्व-शक्ति का ही अंश-विशेष है, उसके भीतर भावी अभिव्यक्ति का मानो बीज छिपा रहता है। इस शरीर में कोई स्पन्दन नहीं होता, कोई क्रिया नहीं होती। सुषुप्ति काल में चंचल इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि बीज-अवस्था में परिणत होकर निश्चल भाव से कारण शरीर में स्थित रहती हैं। कारण शरीर आत्मज्ञान के विकास को बाधित करता है। आत्मा को आवृत्त करके रखना ही इस शरीर का एकमात्र कार्य है।

सुषुप्ति काल में आत्मज्ञान बाधित तो होता है, परन्तु तब परमात्मा का आवरण केवल कारण शरीर (या आनन्दमय

कोष) ही होने के कारण उस अवस्था में काफी-कुछ अबाध रूप से उसके चिदानन्द-स्वरूप का स्फुरण होता रहता है। उस समय जीवात्मा की स्वरूपगत प्रशान्ति अविकृत रहती है। शरीर तथा मन की चंचलता के लुप्त हो जाने से उस समय उसमें किसी भी प्रकार की चंचलता आरोपित नहीं होती। तब जीवात्मा सुषुप्ति की निस्तब्धता का अनुभव करती है और अपने आनन्द की धारा में सुषुप्ति-अवस्था को शान्ति से परिपूर्ण रखती है। बृहदारण्यक उपनिषद्[२२] में इस अवस्था का एक सुन्दर वर्णन दिया हुआ है – "जैसे कोई गरुड़ या बाज पक्षी आकाश में उड़ते-उड़ते थककर पंख फैला करके अपने घोसले की ओर उन्मुख होता है, ठीक वैसे ही यह जीवात्मा सुषुप्ति नामक एक ऐसी अवस्था की ओर दौड़ती रहती है, जिसमें पहुँचकर वह अन्य कोई कामना नहीं करती, कोई भी स्वप्न नहीं देखती।"

इस प्रकार जाग्रत तथा स्वप्न की अवस्थाओं में विभिन्न कर्मों तथा अनुभूतियों से थककर जीवात्मा मानो प्रगाढ़ निद्रा में प्रवेश करके अपनी स्वभावगत विश्रान्ति प्राप्त करती है। इसीलिये कहते हैं कि सुषुप्ति-अवस्था में जीव का परमात्मा के साथ मिलन होता है।[२३] तब मानो उसे उसके स्वरूप की उपलब्धि होती है। 'शयन' का संस्कृत पर्याय है – 'स्वपिति', जिसका अर्थ है – **स्वम् अपीतो भवति**[२४] – अर्थात् अपने स्वयं के भीतर प्रवेश करता है।

अस्तु। लगता है कि प्रगाढ़ निद्रा के समय जीव कुछ भी जान या अनुभव नहीं कर सकता। हमें इसीलिये ऐसा प्रतीत होता है कि उस अवस्था में अपनी सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञेय वस्तु नहीं रह जाती।[२५] जीव का चेतना अविनाशी है, इसीलिये वह सभी अवस्थाओं में अविकृत रहती है। अच्छी निद्रा से उठने के बाद हम कहते हैं – गहरी नींद आयी थी, स्वप्न भी नहीं दिखे। इसी से यह प्रमाणित हो जाता है कि सुषुप्ति के दौरान भी जीवात्मा का साक्षित्व अबाध रूप से बना रहता है।

परमात्मा सुषुप्ति काल में केवल कारण शरीर से आवरित रहकर जीव के एक विशेष रूप में अभिव्यक्त होते हैं। जीव तथा प्रकृति की यह तृतीय अभिव्यक्ति जीवन तथा ज्ञान के एक बिल्कुल नये क्षेत्र में होती है। जीव के इस अद्भुत रूप के महत्त्व को समझाने के लिये उसकी इस अवस्था में शास्त्रों ने इसे एक पृथक् नाम दिया है – 'प्राज्ञ'। परब्रह्म व्यष्टि के कारण-शरीर के आवरण में प्राज्ञ के रूप में अभिव्यक्त होते हैं और समष्टि-कारण-शरीर अर्थात् समग्र अव्यक्त के आवरण में वे 'ईश्वर' के रूप में प्रकट होते हैं।

इस प्रकार जीव का जीवन-प्रवाह बारी-बारी से जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं के भीतर से होकर चलता रहता है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में जीव का एक विशेष रूप व्यक्त हो उठता है। जाग्रत अवस्था में जीव के ज्ञान-कर्म का सम्बन्ध भौतिक विश्व से होता है, स्वप्न काल में उसका सम्बन्ध स्वरचित मानस-लोक के साथ होता है और सुषुप्ति काल में जीव पूर्व विश्रान्ति के साक्षीरूप में स्थित होकर निरन्तर आनन्द का भोग करता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि केवल प्रथम दो अवस्थाओं में बुद्धि के साथ एकात्म होकर विज्ञानमय जीव की 'विश्व' तथा 'तैजस' के रूप में अभिव्यक्ति होती है। परन्तु सुषुप्ति काल में उसके जीवत्व की कोई अभिव्यक्ति नहीं होती; क्योंकि तब जीवात्मा लीन बुद्धि के चंगुल से छूटकर ईश्वर से तादात्म्य का बोध करके साक्षी के रूप में स्थित होता है। यही जीव की 'प्राज्ञ' नामक तृतीय मूर्ति है।

इसी कारण शास्त्रों में कहा गया है कि जीवात्मा अर्थात् बुद्धिरूप में प्रतिभात स्वयंज्योति पुरुष, स्थूल देह एवं इन्द्रियों के साथ क्रमश: युक्त तथा वियुक्त होकर जाग्रत तथा स्वप्न इन दो अवस्थाओं के बीच वैसे ही आवागमन करता रहता है, जैसे एक विशालकाय मछली तीव्र वेगवती नदी के दोनों किनारों के बीच अबाध रूप से आवागमन करती है।[२६]

ठीक इसी प्रकार जीवात्मा किसी स्थूल शरीर को छोड़कर और एक दूसरा शरीर ग्रहण करके इस जगत् में बारम्बार आता-जाता रहता है।[२७] पिछले जन्मों में अर्जित कर्मफलों का 'प्रारब्ध' नामक अंश समाप्त हो जाने पर जीवात्मा कारण तथा सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल देह का परित्याग कर देता है। इसी को मृत्यु कहते हैं। वास्तविक मृत्यु जीवात्मा की नहीं, स्थूल देह की होती है। "आत्मा से विच्छिन्न शरीर की ही मृत्यु होती है, जीव कभी नहीं मरता।"[२८] लौकिक भाषा में जीवात्मा के नये शरीर में प्रवेश को उसका जन्म और देहत्याग को उसकी मृत्यु कहा जाता है। जन्म और मृत्यु की यह व्याख्या नितान्त औपचारिक है।[२९] वस्तुत: आत्मा का जन्म, वृद्धि, क्षय आदि कुछ भी नहीं होता, ये सभी स्थूल देह के विकार मात्र हैं।

सूक्ष्म शरीर, अपने अन्तर में परमात्मा का जीवात्मा-रूपी प्रतिबिम्ब धारण करके स्थूल शरीर से बाहर निकलता है। परमात्मा अखण्ड सर्वव्यापी चेतना है, उसमें किसी भी प्रकार की गति की सम्भावना नहीं है। बुद्धि पर पड़नेवाला उसका मिथ्या प्रतिबिम्ब ही बुद्धि की गति से गतिशील प्रतीत होता है। इस अर्थ में, परमात्मा की चेतना से प्रदीप्त बुद्धि-प्रमुख अन्त:करण के स्थूल शरीर में प्रवेश करने पर कहा जाता है कि जीव का जन्म हुआ और उसके देह त्याग करने पर कहा जाता है कि उसकी मृत्यु हुई।

इसी भाव से जीव इहलोक और परलोक के बीच आना-जाना करता है। जन्म-मृत्यु से होकर जीव का यह अभियान अनादि काल से चला आ रहा है। जीव के कारण तथा सूक्ष्म

शरीर सृष्टि-चक्र के अनेक कल्पों तक चलते हैं। प्रकृति की कोई भी शक्ति उसका ध्वंस करने में सक्षम नहीं है। केवल आत्मज्ञान के उदय से ही वे शून्य में विलीन हो जाते हैं। जब तक आत्मा का बुद्धि के रूप में और बुद्धि का आत्मा के रूप में भ्रम बना रहता है, तब तक इन दोनों शरीरों का विनाश नहीं होता। अनादि अविद्या के प्रभाव से आत्मा का धर्म बुद्धि में और बुद्धि का धर्म आत्मा में आभासित होता है। इस भ्रम को शास्त्रों में 'अध्यास' कहा गया है। इस अविद्या-जनित अध्यास के प्रभाव से देह-इन्द्रियों का संघात आत्मा के समान चेतन सत्ता जैसा प्रतीत होता है। इसी कारण हम लोग देह या मन के विकारों को आत्मा पर आरोपित करके 'मैं वृद्ध हूँ', 'मैं रुग्ण हूँ', 'मैं उद्विग्न हूँ', 'मैं सुखी हूँ' आदि कहा करते हैं।

मनुष्य जब अपना सच्चा स्वरूप प्राप्त कर लेता है, तब यह अध्यास दूर हो जाता है और तभी जीव के इस अनादि अभियान का गौरवपूर्ण समापन होता है; माया तथा उसके मिथ्या नाम-रूपों का परिवार शून्य में मिल जाता है। उसकी सारी उपाधियाँ गिर पड़ती हैं। तब ऐसा कुछ भी नहीं रह जाता, जो परमात्मा को आवृत्त तथा रंजित कर सके; ऐसा कुछ भी नहीं रह जाता, जो शुद्ध चेतना को प्रतिबिम्बित कर सके। जो आत्मा काफी काल से मायावश अपने को क्षुद्र शक्तियुक्त जीव समझ रही थी, उसे अब बोध हो जाता है कि वह सच्चिदानन्द के अनन्त समुद्र-रूप परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। जैसे नदी अनेक विभिन्न प्रकार के भूखण्डों से होकर बहती हुई अन्त में समुद्र में अपनी पृथक् सत्ता को खो देती है, वैसे ही जीव भी अपने अनादि यात्रापथ में असंख्य जन्म-मृत्युओं के भीतर से होकर, तरह-तरह के शरीरों में, विभिन्न लोकों में विचरण करने के बाद, अन्ततः अपने मूल उद्गम – परमात्मा को पाकर उन्हीं में विलीन हो जाता है। इस प्रकार अपने स्वरूप की प्राप्ति में ही जीव के अनादि अभियान रूपी स्वप्न का अवसान होता है।

मानव-जन्म में ही पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त करके चरम लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव है। कोई-कोई अपने जीवन-काल में इस लक्ष्य तक पहुँचकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं। कोई-कोई अपने देहान्त के समय वहाँ पहुँचते हैं और वे विदेह-मुक्ति पाते हैं। फिर कोई-कोई अपने जीवन-काल में काफी दूर तक अग्रसर होकर देहान्त के समय क्रम-मुक्ति का पथ पाकर चरम लक्ष्य तक पहुँचते हैं। ये लोग मृत्यु के बाद अनेक ऊर्ध्व-लोकों को पार करके अन्ततः ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं और वहाँ कल्प के अन्त तक निवास करने के बाद उसी लोक के अधिष्ठातृ-देवता हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) के साथ मुक्त हो जाते हैं।

बाकी लोग, जो अपनी कामनाओं से परिचालित होकर भले-बुरे कर्म करते रहते हैं, वे मृत्यु के बाद ऊर्ध्व या अधो लोक में कुछ काल बिताने के बाद पुनः पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करते हैं। अपने-अपने कर्मफलों का भोग करने के लिये कोई-कोई वनस्पति, कीट या पशु की योनि भी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अपने दुष्कर्मों का फल भोगने के बाद उन्हें फिर से मनुष्य-जन्म मिलता है। मनुष्य-जन्म में ही आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त होने का सुअवसर प्राप्त होता है। दुर्लभ मानव-जन्म में ही जीव को पूर्ण आत्म-विकास का सुयोग मिलता है, इसीलिये हिन्दू शास्त्रों में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

सन्दर्भ-सूची –

१६. मुण्डक उप., ३/१/१; श्वेताश्वतर उप., ४/६
१७. कठ उप., १/३/१;
१८. बृहदारण्यक उप., ४/३/८
१९. वही, ४/३/७
२०. बृहदारण्यक उप., ४/३/९
२१. ब्रह्मसूत्र, २/३/३१
२२. बृहदारण्यक उप., ४/३/१९
२३. छान्दोग्य उप., ६/८/१
२४. वही, ६/३/१
२५. बृहदा. उप., ४/३/२३
२६. वही, ४/३/१८
२७. वही, ४/३/९
२८. छान्दोग्य उप., ६/११/३
२९. बृहदा. उप., ४/३/८

❖ (क्रमशः) ❖

विषय-भोग कब तक ?

छोटा बच्चा घर में अकेले ही बैठे-बैठे खिलौने लेकर मनमाने खेल खेलता रहता है, उसके मन में कोई भय या चिन्ता नहीं होती। परन्तु ज्योंही उसकी माँ वहाँ आ जाती है, त्योंही वह सारे खिलौने छोड़कर – 'माँ, माँ' – कहते हुए उसकी ओर दौड़ जाता है। तुम लोग भी इस समय धन-मान-यश के खिलौने लेकर संसार में निश्चिन्त होकर सुख से खेल रहे हो, कोई भय या चिन्ता नहीं है। परन्तु यदि तुम एक बार भी उस आनन्दमयी जगदम्बा को देख पाओ, तो फिर तुम्हें धन-मान-यश नहीं भाएँगे, तब तुम सब फेंककर उन्हीं की ओर दौड़ जाओगे।

– श्रीरामकृष्ण

माँ श्री सारदा देवी (२)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

एक अन्य दिन संध्या के बाद मैं स्वामी विवेकानन्दजी के साथ माँ के घर गया। स्वामीजी (तब) हाल ही में कश्मीर से लौटे थे और माँ को प्रणाम करने आये थे। साथ में खगेन महाराज (स्वामी विमलानन्द) और सुशील महाराज भी थे। योगीन महाराज, कृष्णलाल और हम लोग स्वामीजी के साथ ऊपर माँ के पास गये। माँ अपना पूरा शरीर एक चादर से ढँके कमरे के एक कोने में खड़ी थीं। कृष्णलाल उनके समीप खड़े होकर उनके उत्तर स्वामीजी को सुनाने लगे।

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि बड़ों में दो-एक लोगों को छोड़ हमने माँ को कभी अन्य किसी से बातें करते नहीं देखा। ऐसे अवसरों पर छोटों में से किसी एक को उनके पास रहना पड़ता, जिसके द्वारा वे अपनी बात कहलवा सकें। जिन बड़े लोगों से वे बातें करती थीं, वे थे लाटू महाराज, गोपालदा या बूढ़े गोपाल और भक्तश्रेष्ठ नाग महाशय। जिनसे वे बातें नहीं करती थीं, उनके आने पर अपने पूरे शरीर (दोनों चरणों को छोड़) को ढँककर खड़ी हो जातीं और उनके चले जाने पर चादर हटा देतीं।

स्वामीजी ने जब आकर माँ को प्रणाम किया, तो उन्होंने चादर में से अपना दाहिना हाथ बाहर निकालकर स्वामीजी के मस्तक को स्पर्श करके आशीर्वाद दिया। स्वामीजी के बाद हम लोग भी बारी-बारी से माँ को प्रणाम करके कमरे के बाहर आकर दालान में बैठे। माँ और कृष्णलाल भीतर रह गये। स्वामीजी ने मानपूर्वक कहा – "माँ, तुम्हारे ठाकुर ऐसे ही हैं! कश्मीर में एक फकीर का चेला मेरे पास आता-जाता था, इसलिए फकीर ने मुझे शाप दिया, 'तीन दिन के भीतर दस्त के कारण यह स्थान छोड़कर चले जाना पड़ेगा' – और वैसा ही हुआ भी। मुझे छोड़कर चले आने को बाध्य होना पड़ा। तुम्हारे ठाकुर कुछ भी न कर सके!" माँ ने उत्तर दिलवाया –"विद्या! विद्या को मानना पड़ता है बेटा! सारी विद्याएँ विद्या ही हैं, और वे तोड़ने तो आये नहीं थे। हमारे ठाकुर तो छींक और छिपकली की टिकटिक तक मानते थे। सुना है शंकराचार्य ने भी तो अपने शरीर में रोग को स्वीकार कर लिया था। तुम्हारे शरीर में रोग आना और ठाकुर के शरीर में आना एक ही बात है।" स्वामीजी ने कहा – "तुम चाहे जो भी कहो, मैं तुम्हारी बात नहीं मानता। वह ब्राह्मण कुछ भी नहीं है।" माँ ने उत्तर दिलवाया – "न मानने का कोई उपाय कहाँ है बेटा? तुम्हारी चोटी तो (उनके हाथ में) बँधी हुई है।" स्वामीजी सजल नेत्रों से उठे और थोड़ी देर माँ के दोनों चरणों को पकड़े रहने के बाद नीचे उतर आये। हम सभी ने उनका अनुसरण किया। कृष्णलाल के प्रसाद लाने पर उन्होंने उसे सिर से स्पर्श करके ग्रहण किया।

आज काली-पूजा का दिन है। (बेलूड़ में) नया मठ-भवन निर्मित हो चुका है। नीलाम्बर मुखोपाध्याय का घर छोड़कर मठवासी अपने भवन (नये मठ) में आ गये हैं। मठ-भवन के निर्माण-कार्य शुरू होने के पूर्व से ही भगिनी निवेदिता और दोनों अमेरिकी महिलाएँ बाली में 'रिवर टॉमसन स्कूल' के पास गंगा के किनारे एक छोटे-से सुन्दर एक-मंजिले मकान में चली गयी थीं। अब दोनों अमेरिकी महिलाओं के स्वदेश लौट जाने के बाद भगिनी निवेदिता ने बालिका-विद्यालय के लिये बोसपाड़ा लेन का १६ नं. का मकान किराये पर लिया है।[५]

कालीपूजा होने के कारण आज मठवासियों के लिये आनन्द का दिन है। सब लोग खूब सबेरे उठ गये हैं। सभी के चेहरे से आनन्द फूट रहा है। राखाल महाराज के आदेश पर मठ और मन्दिर के दरवाजे पर मंगल-घट और केले के पेड़ रखे गये हैं। नन्दलाल भण्डार और उसके साथ ही ठाकुर-पूजा के आयोजन में व्यस्त हैं। निष्ठावान ब्राह्मण क्षीणकाय होने के बावजूद कमर कसकर डटे हैं। शरत् महाराज मठ के व्यवस्थापक हैं – स्वयं मठभवन, पूजाघर, रसोईघर, भण्डार आदि की सफाई कराते हुए घूम रहे हैं। स्वामीजी मठ में ही हैं। सभी लोग अपने-अपने काम में खूब व्यस्त हैं। आज कालीपूजा[६] के उपलक्ष्य में मठ में स्वयं महामाया (श्रीमाँ) आ रही हैं, इसीलिए आज मठवासियों के

५. इस भवन में बालिका-विद्यालय का उद्घाटन-अनुष्ठान माँ के हाथों रविवार, १३ नवम्बर, १८९८, कालीपूजा के दिन हुआ था। – सं.
६. श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी गम्भीरानन्द, सं. १९८१, पृ. २२८

मन में आनन्द मानो समा नहीं पा रहा है।

देखते-ही-देखते माँ की नाव मठ-भूमि से आ लगी। पहले की भाँति ही आज भी उनके साथ सभी लोग आये हैं। सारदा महाराज (स्वामी त्रिगुणातीत) भी आये हैं। क्रमशः मास्टर महाशय (श्रीरामकृष्ण-वचनामृत के लेखक 'श्रीम') किशोरी-बाबू (उर्फ अब्दुल) आदि आ पहुँचे।

माँ नाव से उतरकर सबका प्रणाम स्वीकार करने के बाद हाथ-पाँव धोकर सीधे मन्दिर में चली गयीं और 'आत्माराम'[७] की पूजा करने बैठ गयीं। श्वेत संगमरमर से निर्मित ठाकुर की वेदी में बनी हुई छोटी-सी आलमारी का काष्ठ-द्वार आज खुला रखा गया है। माँ आलमारी से स्वयं ही 'आत्माराम' को बाहर निकालकर जी भरकर पूजा करने बैठीं। उनके दोनों नेत्रों से अविरल प्रेमाश्रु बहने लगे; दोनों हाथ काँपने लगे। वे काफी देर तक आत्माराम को हृदय से लगाये रहीं।

माँ के आत्मस्थ होने की खबर मठवासियों में बिजली की भाँति फैल गयी। इसके फलस्वरूप सब आनन्द से अधीर होकर नीचे के वृक्षतल में एकत्र होकर खोल-करताल लेकर गाने और नृत्य करने लगे। सभी लोग चक्कर लगाते हुए गा रहे थे और साथ में नृत्य भी कर रहे थे। साथ में खोल-करताल बज रहा था। कोई बाकी नहीं रह गया था, सभी एकत्रित हो गये थे। सभी स्वयं मतवाले होकर और सबके प्राण उन्मत्त करते हुए गाने लगे (भावार्थ) –

> **पिता साथ में खेलेंगे, माँ गोद में लेंगी; आओ सभी मिलकर 'जय माँ' कहकर पुकारें।। पिता पागल भोलेनाथ हैं और माँ पगली नारी है। माँ कितनी सुन्दर हैं, जरा गौर से देखो ! धे धे धे, आओ दौड़कर आओ, हम माँ के पुत्रों ने माँ को पा लिया है।**

स्वामीजी अब तक ऊपर अपने कमरे में थे। नृत्य-गीत सुनकर वे स्वयं को न रोक सके और नीचे आकर टोली में शामिल हो गये। उन्हें पाकर सब के भीतर दैवी शक्ति जाग उठी, सभी आत्मविभोर होकर – "पिता साथ में खेलेंगे, माँ गोद में लेंगी" आदि दुहराते हुए गाने लगे। स्वामीजी उत्साह बढ़ाते हुए बोले, "गाओ, गाओ।" और जो लोग नृत्य कर रहे थे, उन्हें अंगभंगिमा दिखाकर नृत्य में उत्साहित करने लगे। उसके बाद वे स्वयं ही मृदंग लेकर बजाने लगे और गाते हुए नृत्य करने लगे। वह अपूर्व दृश्य था – उसे जिसने भी देखा, वह धन्य है ! काफी काल तक इसी प्रकार चलने के बाद आखिर में मृदंग की गति धीमी हुई। उसी अनुपात में गाने की गति भी धीमी हुई। धीरे-धीरे समवेत कण्ठ से गीत होता रहा – "पिता साथ में खेलेंगे, माँ गोद में लेंगी।"

करीब डेढ़ घण्टे पूजा करने के बाद माँ ने अपना आँचल गले में लपेटकर फर्श पर मस्तक टेककर प्रणाम किया और वैसे ही कम्पित हाथों से आत्माराम को पुनः उस आलमारी में रख दिया। आलमारी में ताला लगा दिया गया।

अपराह्न में भगिनी निवेदिता आईं। माँ जब बोसपाड़ा लेन वापस लौटीं, तब उनकी नाव के साथ निवेदिता एक अन्य नाव में स्वामीजी, राखाल महाराज और शरत् महाराज को लिवा गईं और उक्त १६ नं. बोसपाड़ा लेन के भवन में उन लोगों की उपस्थिति में बालिका विद्यालय की स्थापना की।[८]

कुछ दिनों बाद योगीन महाराज अस्वस्थ हुए। रोग क्रमशः बढ़ता गया। नित्य का भोजन बन्द हो गया, डॉक्टर देखने आते रहे। पहले प्रसिद्ध डॉक्टर विपिनबिहारी घोष और शशिभूषण घोष ने उन्हें देखकर संग्रहणी रोग बताया। बड़े-बड़े वैद्य भी आये। पर कैसे भी रोग दूर नहीं हुआ।

कृष्णलाल अकेले उनकी सेवा नहीं कर पा रहे थे, अतः उनकी सहायता के लिए मठ से वर्तमान लेखक आया। दिन में कृष्णलाल तथा लेखक और रात में सारदा महाराज सेवा करने लगे। सारदा महाराज दिन में कम्बूलिया टोले में स्थित उद्बोधन प्रेस का काम देखते और रात में हम लोगों को विश्राम देने हेतु योगीन महाराज की सेवा करते। कृष्णलाल माँ के शिष्य होकर भी योगीन महाराज के विशेष अनुरागी थे। मल-मूत्र की सफाई का काम वे अन्य किसी को न करने देकर स्वयं ही करते। लेखक वेंजर्स फूड बनाने, ठीक समय पर दवा तथा पथ्य देने और परिचर्या के अन्य साधारण कार्यों में लगा। अवकाश मिलने पर ऊपर माँ के पास जाता और रोगी के हालत के बारे में बताता। वे बड़े आग्रह से सुनतीं। वे विभिन्न बातें कहतीं। आते समय खाने को देतीं। उन दिनों बहुत कम स्त्री या पुरुष भक्त माँ के पास आते थे। माँ की गृहस्थी में आय बहुत कम थी, किसी तरह खर्च चल जाता था। एक दिन ऊपर जाकर देखा एक स्त्री-भक्त बैठी हैं। मुझे देखते ही उन्होंने माँ से पूछा, "यह क्या हमारे महाराज के भाई हैं?" माँ ने – "हाँ" – कहकर (लेखक के साथ) उनका परिचय करा दिया। बोलीं – "यह मेनी की माँ[९] है, बड़ी भक्तिमती है।" परवर्ती काल में हम लोगों को कई दिन मेनी की माँ के यहाँ खाना पड़ा था।

योगीन महाराज का रोग क्रमशः बढ़ता गया। बोलने की भी शक्ति क्षीण होने लगी, बड़ी धीमी आवाज में अपनी बात कहते। सभी चिन्तित हो उठे। विशेषकर माँ अत्यन्त उद्विग्न हो गयीं। मठ से गुरुभाई लोग आकर उन्हें देखकर जाने

---

७. श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद उनकी अस्थियाँ एक ताम्रपात्र में रखी गयीं और मठ में नित्य पूजित होती रहीं। उस दिन उन्हें वेदी के प्रकोष्ठ में रखा गया। स्वामीजी ने इसे 'आत्माराम' नाम दिया था।

८. श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी गम्भीरानन्द, सं. १९८१, पृ. २२८

९. राजबाला घोष। ये माँ की मंत्रशिष्या थीं। उनके पुत्र नरेशचन्द्र घोष (गौर) भी माँ के शिष्य थे। मेनी उनकी बड़ी बहन का नाम था।

लगे। एक दिन उनके पिता नवीनचन्द्र चौधरी महाशय भी आकर देख गये। हम लोग प्राणपण से सेवा करते रहे।

इसी काल में अन्य दिनों की तरह एक दिन सुबह माँ द्वारा पूजा के निमित्त माली के दिये हुए फूल लेकर जब मैं ऊपर गया तो देखा – माँ अपने कमरे में पश्चिम की ओर मुख किये पाँव फैलाये चुपचाप बैठी हैं और उनके दोनों गालों से होकर झर-झर आँसू बह रहे हैं। उन्हें इस भाव में देखकर मैंने सोचा कि वे रोगी के लिए रो रही हैं। मेरी क्षुद्र बुद्धि में जो भी आया, वह सब कहकर मैं उन्हें समझाने लगा। पता नहीं, उन्होंने मेरी बातें सुनी या नहीं। थोड़ी देर बाद वे अधीर होकर बोलीं – "मेरे बेटे योगीन का क्या होगा, बेटा?" मैंने कहा – "माँ, आप चिन्ता क्यों करती हैं, ठीक हो जायेंगे।" उन्होंने कहा – "लेकिन मैंने जो देखा है, बेटा।" – "क्या देखा है, माँ?" वे बोलीं – "सुबह देखा कि ठाकुर उसे लेने आये हैं।" इतना कहकर वे रोने लगीं। उन्हें रोते देखकर मेरी आँखें भी नम हो गयीं। फिर अगले ही क्षण उन्होंने मुझे सतर्क करते हुए कहा – "किसी से कहना मत – कहना उचित नहीं होगा।" मैंने कहा – "अच्छा माँ, नहीं कहूँगा।" उन्हें वचन दे दिया और उसी के कारण अब तक किसी से नहीं कहा, लेकिन आज न जाने क्यों लेखनी द्वारा प्रकट हो गयी। वे फिर कहने लगीं – "योगीन मेरा बेटा है – जैसे सारदा है, वैसे ही योगीन भी है"[१०] आदि।

बहुत समझाने पर माँ जब पूजा करने बैठीं, तो मैं नीचे उतर आया। आकर देखा, रोगी की अवस्था बड़ी खराब हो गयी है। सारदा महाराज उस दिन उद्बोधन के कार्य हेतु नहीं गये। डॉक्टर शशीभूषण घोष ने सारदा महाराज को अलग ले जाकर न जाने क्या-क्या बताया। दोपहर होते-होते अवस्था बिल्कुल बिगड़ गयी। उस समय चैत मास का मध्य था।[११] दोपहर में पता चला कि वे सचमुच ही हम लोगों से विदा होकर चले जायेंगे। मठ में खबर भेजी गयी। संध्या के पूर्व रोगी का चेहरा एक अपूर्व ज्योति से आलोकित हो उठा। कृष्णलाल सिरहाने बैठे थे। वे सहसा धाड़ मारकर रो पड़े। उनका रोना सुनकर ऊपर माँ जोरों से रोने लगीं। इसके पहले मैंने कभी माँ को जोरों से बोलते तक नहीं सुना था। आज उसका व्यतिक्रम हुआ। उनके आर्तनाद से व्यथित होकर मैं उनके दोनों चरणों को पकड़कर उनसे चुप रहने हेतु अनुनय-विनय करने लगा। कोई फल नहीं निकला। वे बोल उठीं – "तुम जाओ, जाओ, मेरा योगीन मुझे छोड़कर चला गया।"

१०. इसके पहले माँ से सुना था कि योगीन महाराज और सारदा महाराज ठाकुर के शिष्य होते हुए भी माँ द्वारा दीक्षित थे।

११. स्वामी योगानन्द का देहत्याग २८ मार्च १८९८ को हुआ था।

मठ से साधु लोग आ पहुँचे। खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्द) ने अपने हाथ से योगीन महाराज के शरीर में विभूति लगाकर पूजा तथा आरती की। क्रमशः हाल ही में स्थापित रामकृष्ण मिशन[१२] के कुछ सदस्य भी आ पहुँचे। शवदेह पुष्प, गन्ध और माला से सजाकर खाट पर रखी गयी। केवल सारदा महाराज को माँ के घर पर छोड़कर बाकी सभी लोग शवदेह के पीछे-पीछे चल पड़े।

जब स्वामी योगानन्द का नश्वर शरीर शोभायात्रा के साथ कोलकाता के बागबाजार अंचल से होकर बेलूड़ मठ के संन्यासियों द्वारा वहन करके गुरु गम्भीर 'हरि ॐ तत्सत्' की ध्वनि के साथ काशी मित्र घाट की ओर ले जाया जाने लगा, उस समय रात के करीब नौ बजे थे। इस अभूतपूर्व दृश्य तथा ध्वनि से मुहल्ले के आबाल-वृद्ध-वनिता आकृष्ट होकर अपने घरों से बाहर निकल आये और उन महापुरुष के प्रति श्रद्धांजलि प्रदर्शित करने लगे। कोलकाता के लिए यह एक नवीन दृश्य था।

यथासमय शव को चिता पर रखकर संन्यासियों द्वारा अग्नि प्रदान करने के बाद उनके समवेत कण्ठों से निःस्रित यह देवमंत्र श्मशान-भूमि को मुखरित करने लगा –

वायुरनिलममृतम् अथेदं भस्मान्तं शरीरं।
ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर।

और देखते-ही-देखते वहाँ चिताभस्म मात्र रह गया।

भस्म-स्तूप को पवित्र भागीरथी के जल से धोया जा रहा था। उसी समय नाट्य-सम्राट् गिरीशचन्द्र थियेटर से वहाँ आये और अपनी श्रद्धा के आँसुओं से उसमें योगदान किया।

सब समाप्त हो जाने के उपरान्त खोका महाराज कुछ अस्थियों को एकत्र करके यत्नपूर्वक ले आये। उन्हें एक पात्र में रख दिया गया। बाद में योगीन महाराज का एक तैलचित्र बनवाकर मन्दिर के बाहरी दालान में लगा दिया गया।

अगले दिन मैंने माँ को दुखपूर्वक कहते सुना – "मकान की एक ईंट खिसक गयी।"

योगीन महाराज के देहत्याग के बाद से माँ के घर में कृष्णलाल ही रह गये और सारदा महाराज हर रोज रात में उद्बोधन से लौटकर वहीं रहने लगे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

१२. कुछ समय पूर्व ही स्वामीजी द्वारा रामकृष्ण मिशन स्थापित हुआ था और इसके नियमित अधिवेशन हर रविवार की संध्या को रामकान्त बसु स्ट्रीट में बलराम-भवन के ऊपर हॉल में होता है। योगीन महाराज ने एक बार एक अधिवेशन में छोटा-सा व्याख्यान दिया था। अन्य वक्ताओं में थे – नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र, डॉक्टर शशीभूषण घोष, स्वामी त्रिगुणातीतनन्द आदि। सदस्यों में प्रमुख थे – शरत् सरकार, चुनीलाल बसु, असीमकुमार बसु और शैलेन्द्र।

शाश्वत कवि श्रीराम

स्वामी प्रपत्यानन्द

ईशावास्योपनिषद् में आत्मा की सर्वव्याप्ति के सन्दर्भ में ऋषि 'कवि' शब्द का उल्लेख करते हैं – **कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः** – 'वह आत्मा कवि – सर्वव्यापी, क्रान्तदर्शी, मनीषी होता है। वह विश्वप्रेमी, आत्मनिष्ठ, यथार्थ-भाषी और शाश्वत काल पर दृष्टि रखनेवाला होता है।'

श्रीराम के पावन दिव्य चरित का लेखन कर असंख्य कवि उत्पन्न हुये। श्रीराम के पूनीत चरित ने महर्षि वाल्मीकि को आदिकवि तथा कवीश्वर से विभूषित किया। गोस्वामी तुलसीदास को महाकवि बनाया। कालीदास जी को कविकुल शिरोमणि से अलंकृत किया। श्रीराम के चरित्र की विलक्षणता से अभिभूत हो मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी काव्य-सरिता को प्रवाहित करते हुये लिखा –

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई भी कवि बन जाय सहज संभाव्य है।।

भगवान श्रीराम का जीवन-चरित स्वयं ही काव्य है। इसके रचनाकार वे स्वयं ही हैं। इसके अनुभववेत्ता वे स्वयं ही हैं। वह कौन सा काव्य-तत्व है, जिसकी अभिव्यक्ति श्रीरामचन्द्र के जीवन में ही सर्वाधिक परिलक्षित होती है? जिसके कारण मैंने उन्हें 'शाश्वत् कवि' से समलंकृत किया है, यही हमारा संक्षेप में विवेच्य विषय है।

कविता की परिभाषा देते हुये युग-तुलसी की उपाधि से सम्मानित रामकथा-रहस्यवेत्ता श्री रामकिंकर उपाध्याय जी कहते हैं – ''हृदय और बुद्धि का समन्वय, हृदयानुगामी बुद्धि, ग्रहणोन्मुखता, समष्टि बुद्धि से एकात्मकता द्वारा उत्पन्न होने वाली प्रतिभा ही कविता है।''

काव्य-तत्त्व के विवेचन के पूर्व काव्य की परिभाषा विभिन्न महान् साहित्यकारों की दृष्टि में क्या है इस पर एक बार दृष्टिपात करें। मम्मटाचार्य जी काव्य-स्वरूप के सूत्र वाक्य में लिखते हैं – **तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनःक्वापि** – वे शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं, जो दोषरहित हों, गुण-युक्त हों, अलंकृत हों या न हों। साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ जी की दृष्टि में रसात्मक वाक्य ही काव्य है – **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।** आनन्दवर्धनाचार्य जी 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादन करते हैं और उस ध्वनि के स्वरूप के विषय में कहते हैं – **ध्वनेस्तत्त्वं गिराम् अगोचरं सहृदयहृदय-संवेद्यं एवं समाख्यातवन्तः** – 'ध्वनि का तत्त्व वाणी के वर्णन का विषय नहीं है, यह सहृदय व्यक्तियों के द्वारा स्वयं अनुभवनीय है। **न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते** – वाणी इसका वर्णन नहीं कर सकती। इसे हृदय के द्वारा अनुभव किया जाता है। यह तत्त्व वाणी के परे सहृदय-हृदय-संवेद्य है। अत: कवि को सहृदय होना चाहिये। यह 'सहृदय' शब्द ही हमारे लिये विशेष महत्वपूर्ण है। दूसरा तथ्य है – काव्य-प्रयोजन का प्रतिपादन करते हुये 'काव्य प्रकाश' के प्रणेता मम्मटाचार्य जी लिखते हैं – **रसांग भूत-व्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तर-वर्णनानिपुण-कविकर्म...।** काव्य-रचना का प्रयोजन लोकोत्तर, अलौकिक आनन्द प्रदान करना भी है। लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति लोकोत्तर पुरुष के बिना नहीं हो सकती। श्रीराम स्वयं लोकोत्तर पुरुष हैं, इसलिये उनका लोक-जीवन तथा लोक-सृष्टि भी लोकोत्तर है, जो लोकोत्तर आनन्द प्रदान करती है।

समान्तर कोषकार ने ब्रह्म को 'कवि' शब्द से अभिहित किया है। सगुण ब्रह्म श्रीराम की सृष्टि यह संसार सभी रसों, गुणों, अर्थों और अलंकारों से विभूषित है। ऐसा सृष्टि-काव्य, लोकोत्तर काव्य सहृदयों को स्पन्दित करता है। जिस काव्य के एकांश की हृदयानुभूति कर असंख्य कवि उत्पन्न हो रहे हैं। एक क्रौंची के बलिदान ने महर्षि वाल्मीकि को कवीश्वर बना दिया। तुलसी को महाकवि बना दिया। कालीदास और भवभूति को श्रेष्ठ कवियों की श्रृंखला में प्रथित कर दिया। लेकिन मेरा विवेच्य विषय वह काव्य-तत्त्व है जिसने भगवान श्रीराम को 'शाश्वत कवि' की उपाधि से उपहित किया है। भगवान श्रीराम की 'सहृदयता' 'परदुःखकातरता' 'परसंवेदनसंवेद्यता' ने उन्हें गुरुत्व प्रदान किया, उन्हें लोकोत्तर बनाया। लोकोत्तर पुरुष की महिमाको भवभूति ने इस श्लोक में बड़े ही रहस्यात्मक रीति से प्रस्तुत किया है –

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।।

– 'लोकोत्तर पुरुषों का चित्त वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल होता है। उनके हृदय को, उनके मन की गति को सामान्य व्यक्ति कैसे समझ सकता है?

भगवान करुणानिधान हैं, दयानिधि हैं। उनका अवतरण प्राणियों पर कृपा करने के लिये ही होता है। किन्तु अवतार के रूप में परसंवेदना से संवेदित होने की अभिव्यक्ति श्रीरामावतार में सर्वाधिक परिलक्षित होती है। छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े, चाण्डाल, निषाद से लेकर मुनि वशिष्ठ तक, स्वानुजों

से लेकर वानरों तक, नगरवासियों से लेकर अरण्यवासियों तक, मनुष्यों से लेकर नृप, देव, किन्नर और राक्षसों तक, यहाँ तक कि पशु-पक्षियों तक सबके प्रति विषम परिस्थिति में भी वे उनके प्रति कर्तव्य-पालन में तत्पर रहते हैं तथा अपने हृदय से नि:सृत करुणा-गंगा से सबको अभिषिक्त कर उनके सन्तप्त हृदय को शान्ति प्रदान करते हैं। लौकिक जीवन में उनके अलौकिक लोकोत्तर चरित की कुछ झलकियाँ दृष्टान्तस्वरूप संक्षेपत: प्रस्तुत हैं।

जब गुरु वशिष्ठ जी ने श्रीरामचन्द्र जी को 'युवराज' बनने की सूचना दी, तब उन्हें हर्ष के स्थान पर विषाद होता है। वे गुरु वशिष्ठ जी के जाने के बाद सोचने लगते हैं –

जनमे एक संग सब भाई ।
भोजन समय केलि लरिकाई ।।
करनबेध उपबीत बिआहा ।
संग संग सब भये उछाहा ।।
बिमल बंस यहु अनुचित एकू ।
बंधु बिहाई बड़ेहि अभिषेकू ।।
रामचरितमानस, २/९/५-७

एक साथ हम सभी भाइयों का जन्म हुआ। भोजन-शयन-क्रीड़ा, कर्णबेध संस्कार, उपनयन आदि सब कुछ एक साथ ही हुआ। लेकिन इस विमल वंश में एक ही अनुचित हो रहा है कि सभी छोटे अनुजों को छोड़कर बड़े भाई का राज्याभिषेक हो रहा है। श्रीराम के विशाल उदात्त हृदय का परिचय यहाँ मिलता है।

जिन माता कैकेयी ने श्रीराम को वनवास दिया, उनके प्रति भी वे पूर्ण श्रद्धा से उन्हें कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा अयोध्या को उस विषम परिस्थिति में छोड़कर माता की आज्ञा का पालन एवं पिता के सत्य-वचन के रक्षार्थ सहर्ष वन-गमन करते हैं। वे माँ कौशल्या से बड़ी सहजता से कहते हैं – **पिता दीन्ह मोहि कानन राजू** – माँ, पिताजी ने तो मुझे राजा ही बनाया है, केवल अयोध्या के बदले वन का राज्य प्रदान किया है। श्रीराम ने वनवास-दुख को राज्य-सुख में परिणत कर दिया।

भगवान श्रीराम वन-मार्ग में बहुत से ऋषि-मुनियों से मिले। वीर-योद्धा वानरों से मिले। किन्तु दो ही व्यक्तियों की ही उन्हें बारम्बार याद आ रही है। उनकी अविस्मरणीय छाप उनके मानस-पटल पर है। गोस्वामीजी विनयपत्रिका (१६५/३) में लिखते हैं –

मिलि मुनिबृंद फिरत दण्डकबन
सो चरचौ न चलाई ।
बारहिबार गीध सबरी की बरनत प्रीति सुहाई ।।

– केवल गीधराज और शबरी जी की याद भगवान को आ रही है। जो प्रेम-वात्सल्य भगवान को इन दोनों से मिला, शायद अन्यत्र इसकी प्रतीति नहीं हुई। इतना ही नहीं, जब वे शबरी जी के आश्रम में पधारते हैं, तब शबरी जी ने प्रभु को बारम्बार प्रणाम कर, उनका चरण पखारकर, आसन पर बैठाकर कुछ फल भोग हेतु अर्पित किये, उस समय गोस्वामी जी लिखते हैं –

कंद मूल फल सुरस अति दिये राम कहुँ आनि ।
प्रेम सहित प्रभु खाये बारम्बार बखानि ।। ३/३४

प्रभु सप्रेम बार-बार प्रशंसा करके उनसे माँग-माँग कर खा रहे हैं। गीतावली (३/६) में तुलसीदास जी कहते हैं –

केहि रुचि केहि छुधा सानुज
माँगि माँगि प्रभु खात ।

उपरोक्त प्रसंग से भगवान श्रीराम के हृदय के प्रेम-समुद्र के उच्छलित तरंग का अनुमान लगाया जा सकता है। इसमें उनके हृदयसंवेद्यता की स्पष्ट झलक मिलती है।

गीधराज जी ने सीताजी को बचाने में अपने जीवन को अध्यास्त्र बना दिया। भगवान श्रीराम गीधराज जी को उस दशा में देखकर द्रवित हो जाते हैं और उन्हें अपनी गोद में लेकर रोने लगते हैं। उन्हें अपने पिता-सदृश सम्मान देते हैं, जिसका मार्मिक चित्रण गोस्वामीजी गीतावली (अरण्य-पद-१३) में करते हैं –

राघौ गीध गोद करि लीन्हों ।
नयन सरोज सनेह सलिल
सुचि मनहु अरघ जल दीन्हों ।।१ ।।
सुनहु लषन खगपतिहि मिले
बन में पितु मरन न जान्यौ ।
सहि न सक्यौ सो कठिन विधाता,
बड़ो पछु आजुहि मान्यौ ।।२ ।।

– भगवान श्रीराम अश्रु-अर्घ्य विसर्जित करते हुये कहते हैं – हे लक्ष्मण ! गीधराज जी से मिलने के बाद मैं पिताजी के मृत्यु-शोक से असन्तप्त हो शान्त हो रहा था, लेकिन इसे भी विधाता सहन नहीं कर सके।' एक गीध जैसे पक्षी में राजा दशरथ जैसे पिता जैसी श्रद्धा का समर्पण और उस हेतु हार्दिक विलाप तो उस शाश्वत कवि, क्रान्तदर्शी परमात्मा श्रीराम के अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है !

श्रीराम का जीवन-चरित विभिन्न धर्म, कर्तव्य, गुरु-आज्ञा, प्रजा-मत, लोकमत, राजधर्म, लोकापवाद आदि के संकटों से होकर गुजरता है। कहीं परस्पर विरोध है, कहीं भावना प्रधान है, कहीं धर्म और कर्त्तव्य प्रधान हैं। इन सबसे भी महत्त्वपूर्ण है, श्रीराम को यथार्थ तत्त्व का ज्ञान एवं उनके हृदय की संवेदना। मेरी दृष्टि में श्रीरामचन्द्र जी की व्यथा को श्रीराम के अतिरिक्त दूसरा कोई समझ नहीं सका। इसके अनेकों उदाहरण हैं, उनकी प्राणप्रिया राजमहल से लेकर वनप्रदेश-संगिनी श्रीसीताजी के कारुणिक प्रसंग को उद्धृत

कर हम इस विषय को विराम देंगे।

भगवान श्रीराम ने पवित्रतास्वरूपिणी, श्रीरामगतप्राणा जगज्जननी श्रीसीताजी की लंका में सबके सामने अग्नि-परीक्षा ली। उस अग्नि-परीक्षा में सम्यक् उत्तीर्ण होने के बाद उन्होंने सीताजी को पुनः स्वीकार किया। भगवान श्रीराम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम के लिये यह तत्कालीन परिस्थिति में समीचीन भी प्रतीत होता है। लेकिन अयोध्या में आने के वर्षों बाद लोक-निन्दा के भय से वे पुनः सीताजी का त्याग करते हैं। यह जानते हुये भी कि जानकी जी पूर्णतः पवित्र एवं निष्कलंकचरिता हैं, फिर भी उन्होंने उनका त्याग किया। वह त्याग भी कैसा ! राजभवन में सेविकाओं से आवृत महारानी को घनघोर जंगल में हिंसक पशुओं के बीच अकेली ! उस अकल्पनीय दुख की कल्पना करें। सारा वातावरण क्षुब्ध एवं शोक-सन्तप्त है। लक्ष्मण जी ने घनघोर जंगल में अकेली श्रीसीताजी को रथ से उतारकर उनसे क्षमा माँगते हुये वन से विदा ली। अध्यात्म-रामायण में प्रसंग है –

दोषो न कश्चिन्मे मातर्गच्छाश्रमपदं मुनेः । ५८ ।
लोकापवादभीत्या त्वां त्यक्तवान् राघवो वने । ५९ ।

– 'हे माता ! इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। आप पैदल ही मुनि के आश्रम में चले जाइये। क्योंकि लोकापवाद के भय से श्री रघुनाथ जी ने आपको त्याग दिया है।'

सीताजी अकेले वन में विलाप करने लगती हैं। उनके दुख से सारा वन-प्रदेश दुखित हो जाता है। इसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन करते हुये कालीदास जी लिखते हैं –

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षाः
दर्भानुपातान् विजन्व हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावं
अरण्यवासी रुदितं वनेऽपि ।।

– 'सीताजी के विलाप से दुखित होकर मयूरों ने नाचना बन्द कर दिया। पुष्पपूर्ण वृक्षों से कुसुम झरने लगे। हिरणों ने मुँह में घास लेकर भी खाना छोड़ दिया। अहो ! सीता के दुख से सम्पूर्ण वन-भूमि रुदन करने लगी !'

सर्वत्र शोकमय वातावरण है। राजमहल में भी और वन में भी। लेकिन जिस आदर्श पुरुष ने अपनी निर्दोष पत्नी का इस तरह कठोरता से त्याग किया, क्या वे दुखी नहीं हैं? यहीं श्रीराम की हृदयवत्ता का, सहृदयसंवेद्यता की झलक मिलती है। मर्यादा पुरुषोत्तम ने अपने लोकधर्म, राजधर्म का पालन कर मर्यादा की स्थापना तो की, लेकिन हृदय में एक कसक, पीड़ा रह गयी, जो उन्हें बारम्बार उद्वेलित करती रही। जो विरहानल, जो व्यथाग्नि सर्वदा उनके चित्त को विदग्ध करती रही। वे हृदय से सीताजी का त्याग नहीं कर सके –

कौलिन्यभीतेने गृहान्निरन्ता
न तेन विदेहसुता मनन्तः ।

– भगवान श्रीराम ने 'लोकापवाद के भय से श्री सीताजी को गृह से तो निकाल दिया, किन्तु हृदय से उन्हें दूर नहीं कर पाये।' श्रीराम की इस हार्दिक वेदना में सान्त्वना की बात तो पृथक् है, इसकी धारणा करना ही कठिन है। उनके अनुज एवं अन्यान्य लोग भी उन्हें इस हार्दिक वेदना के सन्ताप से मुक्त नहीं कर सके। इस सन्ताप का अवसान एवं सीताजी के अभाव की परिपूर्ति तो राघवेन्द्र द्वारा अनुज लक्ष्मण को त्यागकर एवं स्वयं के पार्थिव शरीर का त्यागकर शक्तिरूपिणी सीताजी के साथ एकाकार तथा उनसे तादात्म्य में ही होती है। इस वियोग का संयोग, इस पृथकत्व का एकत्व भगवत-भगवती के सम्मिलन से होता है। शान्तिरूपिणी सीताजी के वियोग से उत्पन्न अशान्ति, विछोह, उद्‌विग्नता को शमन करने में लोक, प्रजा, राज, स्वजन सभी असफल हो जाते हैं। तब भगवान पुनः अपनी भगवतीसत्ता-स्वरूपिणी, शान्तिरूपिणी श्रीसीताजी से तत्त्वतः एकत्व प्राप्त कर ही उस वियोग से मुक्त होते हैं, अपने स्वरूपगत आनन्द में प्रतिष्ठित होते हैं।

मैंने भगवान की भगवत्ता का नहीं, लोकजीवन में उनकी हृदयवत्ता, परसंवेदन-संवेद्यता के प्रतिपादन का प्रयास किया। उनकी महत्ता का वर्णन किसी कवि की लेखनी की प्रचेष्टा है, जो सहज बोधगम्य है –

एक कहता है कि तुम आकाश हो,
चाँद हो शीतल प्रभा के वास हो ।।
लोक के तुम भावना-विन्यास हो,
आदि हो तुम अन्त हो इतिहास हो ।।

इसीलिये गोस्वामी तुलसीदास जी 'जानत प्रीति रीति रघुराई' भगवान के इस महिमा से अवगत हो पूर्णतः अपने प्रभु श्रीराम को समर्पण करते हुये विनय-पत्रिका (२७३) में कहते हैं –

तुम तजि हौं कासों कहौं,
और को हितु मेरे?
दीनबन्धु सेवक सखा,
आरत अनाथ पर सहज छोह केहि केरे ।।

ऐसे शाश्वत कवि श्रीराम के चरणों मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे हमें सहृदयसंवेद्यता की, परपीड़ा को बोध करने की क्षमता एवं उसकी सहायता हेतु पुरुषार्थ प्रदान करें। ❑

खेतड़ी-निवास : कुछ घटनाएँ (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

इसी काल के किसी दिन घटी एक रोचक घटना का विवरण मिलता है। पण्डित गोपीनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र पं. लक्ष्मीनारायण जी ने उसका वर्णन इन शब्दों में किया है –

"वर्षा ऋतु की बात है। एक दिन श्रीमान अपने सहचर सेवकों और कृपा-पात्रों सहित साह पन्नालालजी के तालाब की पूर्व कोण-स्थित छतरी की दूसरी मंजिल में बैठे हुए थे। यह तालाब शेखावाटी भर में अपना जोड़ा नहीं रखता। प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप हो रहा था। इसी समय धर्माध्यक्ष मिश्र अम्बादत्तजी ने उपस्थित होकर निवेदन किया कि एक संन्यासी-बाबा श्रीमान (आप) से मिलना चाहते हैं। मूर्ति और प्रकृति दोनों ही अद्‌भुत हैं। मिश्रजी संस्कृत भाषण में 'इदम्' शब्द का बहुल प्रयोग करने के आदी थे, इसलिये श्रीमान राजाजी उन्हें विनोद में 'मिदम्' नाम से ही सम्बोधित किया करते थे। श्रीमान ने 'मिदम्' को आसन की व्यवस्था करके संन्यासी को आदरपूर्वक लिवा लाने की आज्ञा दी।

"संन्यासी कान्तिमान, हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ठ था। श्रीमान ने संन्यासी को उचित अभिवादन और आदर प्रकट करने के पश्चात् आसन पर विराजने के लिए कहा। परन्तु संन्यासी बैठा नहीं – और खड़े-खड़े ही बोला – 'क्या यहाँ के राजा तुम्हीं हो?' श्रीमान ने मुस्कुरा कर कहा – 'हाँ, आप लोगों का सेवक मैं (ही) हूँ।' इस पर संन्यासी ने कुछ उत्तेजित भाव से कहा – 'इस शहर में राजा का कर्तव्य ही मेरी दृष्टि में नहीं आया, फिर सेवक के कठिन कार्य (सेवा-धर्म) पर अपनी आरूढ़ता प्रकट करना मिथ्याभिमान के सिवाय और क्या समझा जा सकता है?'

"स्वामी विवेकानन्द जी तथा प्रमुख उपस्थित लोग संन्यासी के इस कथन पर चकित हो देखने लगे। राजाजी विनयावनत हो फिर बोले – 'महात्मन्, मैं तो एक क्षुद्र जीव हूँ। भूल-चूक होना जीव का स्वाभाविक धर्म है। यदि कोई भूल-चूक हुई हो तो कृपया क्षमापूर्वक आज्ञा कीजिये। आगे के लिए ध्यान रखा जायेगा।' यह सुनकर संन्यासी ने अपने क्रोधपूर्ण स्वर में फिर कहा – 'राजा ! तुम्हें स्वाँग भरना तो खूब याद है, पहले मिथ्याभिमान और अब इतनी नम्रता !'

"मतलब कि – जैसे जैसे अपने नम्र भाषण द्वारा राजाजी ने संन्यासी को सन्तुष्ट करने की चेष्टा की, वैसे ही वैसे वह अग्निशर्मा का रूप धारण करता गया। यह देखकर पं. आनन्दीलाल जी (अङ्गनराम जी) वैद्य से न रहा गया और उन्होंने कहा – महात्माजी ने बाना तो संन्यासी का धारण कर लिया, परन्तु हैं क्रोध की मूर्ति। यह सुनते ही संन्यासी आपे से बाहर हो गया।

"स्वामी विवेकानन्द जी ने शान्ति धारण करने के लिए कहा, तो उन पर भी संन्यासी कुवाक्यों की वर्षा करने लगा। यों सीमातिक्रमण होते देख श्रीमान राजाजी ने गम्भीरता के साथ कहा – 'बस, महात्मन् ! बहुत हो चुका। अपने लिये मुझे पूरा अधिकार है, परन्तु मैं अन्य लोगों के साथ कर्तव्य-वश अन्यायपूर्ण दुर्व्यवहार नहीं देख सकता। लाचार होकर मुझे न्याय-पथ का अवलम्बन करना ही पड़ेगा। इस पर आप विचार कर लीजिये।'

"यह सुनते ही संन्यासी हँस पड़ा और कहने लगा – 'राजन्, क्षमा और न्याय दोनों गुणों को आप में देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। तुम धन्य हो, तुम्हारे उपदेष्टा धन्य हैं।' मालूम हुआ कि संन्यासी कोरा बाबाजी नहीं – विद्वान्-चरित्रवान साधु था। शरीर का नाम रामानन्द था। संन्यासी का श्रीमान् राजाजी और स्वामी विवेकानन्द जी से घण्टों तक विविध विषयों पर संलाप हुआ।"[१]

राजा की काव्य तथा संगीत-प्रतिभा

राजा अजीतसिंह वीणा बजाने में निपुण थे और उन्होंने अनेक कविताएँ, गीत तथा भजन भी लिखे थे। उनकी लिखी हुई एक ठुमरी स्वामी विवेकानन्द जी को बहुत पसन्द थी और वे उसे अक्सर गाया करते थे। १९२७ में प्रकाशित पण्डित झाबरमल शर्मा की 'खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द'

१. 'आदर्श नरेश', पं. झाबरमलजी शर्मा, पृ. ३६६-६८; गार्गी (मेरी लुई बर्क) को प्रथम 'विवेकानन्द-पुरस्कार' प्रदान करते हुए संघाध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने अपने व्याख्यान में इसी घटना का एक अन्य विवरण दिया था। द्र. – उद्‌बोधन १९८३, पृ. १०६।

(पृ. ४) पुस्तिका की 'प्रस्तावना' में इस भजन के विषय में स्वामी अखण्डानन्द जी लिखते हैं, "वे अच्छे कवि थे और उनका हृदय भी प्रेमपूरित था। उनके (द्वारा) रचित एक मधुर पद की याद मुझे अभी तक बनी हुई है। पद की टेक थी – 'उन बिन मोकू कछु न सुहावे। तड़फत जिय अति ही अकुलावे' – इस पद की समाप्ति में था – 'मरण न देत आस मिलबे की'। बस इस शेष पंक्ति के भाव की प्रशंसा करते समय पद गाते हुए स्वामी विवेकानन्द जी महाराज मग्न हो जाते थे। यह एक ही पद राजाजी के प्रेमपूर्ण भावुक हृदय का प्रकृष्ट परिचायक है। राजाजी अपनी प्रजा की उन्नति के लिए सदा तत्पर रहते थे।"

उपरोक्त भजन की शब्द-रचना (आदर्श नरेश, पृ ८०-८१) इस प्रकार हैं –

उन बिन मोहि को कछु न सुहावै,
तरफत चित अति ही अकुलावै ।
ए री सखी, हमरे पीतम कौ,
जाय कोई यह बात सुनावै ।
यह जोवन छीजत है छन-छन,
बीत गये पर फिर नहीं आवै !!

बहुत काल बीते आवन के,
गिनत-गिनत जियरा घबरावै ।
हाय, दई अँखियाँ तरसत हैं,
विरह विपत नित मोहि जरावै ।।

मरन न देत आस मिलबे की,
जीवन छिन उन बिन नहिं भावै ।
सुध-बुध सब ही भूल गयी री !
यह दुख तो अब सह्यो न जावै ।।

मतलब को गरजी जग सारो,
अरजी मोरी कौन सुनावै ।
तन-मन जीति रीति सब करिकै,
भजिहौं राम काम बनि आवै ।।

हे जगदीश ईश विश्वम्भर,
तुम बिन यह दुख कौन मिटावै ।
करी कृपा करुणानिधि मौ पै,
मिले पिया जिय हरष न उमावै ।।

ज्ञानी याहि ज्ञान करि देखै,
रसिक याहि रस पच्छ लगावै ।
जोग-भोग गति दोय एक करि,
सुमति अजित पद सहज बतावै ।।

इस रचना का इतिहास बताते हुए जगमोहन लाल लिखते हैं, "टोंक के वर्तमान नवाब साहब इब्राहिम अलीखाँ जी की रची हुई एक ठुमरी किसी ने अच्छी ध्वनि से गायी थी। ठुमरी के आरम्भ का टुकड़ा था – 'तरफत जियरा समझत नाहीं, बरजत हूँ पर मानत नाहीं।' श्री. राजाजी बहादुर ने हम लोगों (दरबारियों) को उसी वजन की ठुमरियाँ बनाने का हुक्म दिया। कई ठुमरियाँ बनीं, परन्तु सबमें श्रेष्ठ श्रीमान राजा साहब की रचित ही थी। उसकी टेक थी – 'उन बिन मोहि को कछु न सुहावै, तरफत चित अति ही अकुलावै।' " (आदर्श नरेश पृ. ३५८)

राजा अजीतसिंह जी के वीणा बजाने का उल्लेख वाक्यात रजिस्टर में बारम्बार आया है। यात्राओं के दौरान भी उनकी वीणा साथ रहती थी। निम्नलिखित संस्मरण यही इंगित करता है। उन दिनों राजा अजीतसिंह जी कलकत्ते में आकर सेठ दुलीचन्द जी काँकरानिया के यहाँ ठहरे हुए थे। बाबू श्यामलाल जी खत्री के संस्मरण में लिखा है – "राजा साहब राग-रागिनियों से पूरे परिचित थे। उनके पास सब तरह के गुणियों का जमाव रहता था। ... राजा साहब वीणा बजाने में बड़े निपुण थे। आपका वीणा बजाना सुनकर समझनेवाले मुग्ध हो जाते थे। एक बार आप वीणा बजा रहे थे। उस समय स्वामी विवेकानन्द जी भी मौजूद थे। स्वामीजी सिर हिलाकर दाद देने लगे। स्वामीजी ने कहा था – 'राजा साहब आप वीणा क्या बजाते हैं, मोहनी-मंत्र का प्रयोग करते हैं।' " (आदर्श नरेश, पृ. ३७९-३८० और वही, पृ. ८१)

स्वामीजी और राजा के बीच चर्चाएँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी तथा राजा अजीतसिंह का ४ जून से २७ अक्तूबर १८९१ के दौरान आबू, जयपुर तथा खेतड़ी में **लगभग पौने पाँच महीनों तक** निरन्तर सम्बन्ध बना रहा। इन दिनों उनके बीच सैकड़ों बार वार्तालाप तथा चर्चाएँ तो अवश्य ही हुई होंगी। यह एक अति जिज्ञासा का विषय है कि इन मुलाकातों के दौरान उनके बीच क्या बातें होती होंगी ! परन्तु दुर्भाग्यवश उन वार्तालापों को किसी ने लिखकर नहीं रखा, या फिर रखा भी हो तो वे अब तक प्रकाश में नहीं आ सकी है। उनके कुछ प्रश्नोत्तरों को स्वामीजी के बाल्यबन्धु श्री प्रियनाथ सिन्हा ने सम्भवत: मुंशी जगमोहन लाल से सुनकर बँगला मासिक 'उद्बोधन' (वर्ष ७ अंक १४) में प्रकाशित कराया था। 'विवेक-ज्योति' जुलाई, १९९३ अंक (पृ. ४०-५०) में प्रकाशित उसके हिन्दी अनुवाद तथा स्वामीजी की जीवनियों में जो विवरण लिखे गये हैं, उनके आधार पर अब हम उन्हें प्रस्तुत करते हैं –

राजा के प्रश्न और स्वामीजी के उत्तर

महाराजा अजीतसिंह के दो प्रश्नों – जीवन क्या है? और शिक्षा क्या है? का उल्लेख माउंट आबू के प्रसंग में आ चुका है। खेतड़ी में उनके द्वारा पूछे गये और भी जो दो प्रश्न तथा उनके उत्तर प्राप्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं –

महाराजा – स्वामीजी, सत्य क्या है?

स्वामीजी – सत्य एक और अद्वितीय है। मनुष्य मिथ्या से सत्य की ओर नहीं, अपितु आपेक्षिक सत्य से चरम सत्य की ओर अग्रसर होता है।

महाराजा – स्वामीजी, (प्राकृतिक) नियम क्या है?

स्वामीजी ने अविलम्ब उत्तर दिया – "नियम पूर्णत: मानसिक वस्तु है। बाहर इसकी कोई सत्ता नहीं है। यह बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध प्रत्यक्ष ज्ञान से संचित अनुभूति का परिणाम है। बुद्धि ही इन्द्रियों द्वारा अनुभूत वस्तुओं को श्रेणीबद्ध करके उन्हें नियम का रूप प्रदान करती है। प्रत्यक्ष अनुभव किस क्रम में घटित होगा, यह पूर्णत: मानसिक व्यापार है। इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों की जो छाप पड़ती है तथा इनके सम्बन्ध में बुद्धि में जो क्रमबद्ध तथा क्रमिक प्रतिक्रिया होती है, इसके अतिरिक्त नियम और कुछ नहीं है। वैज्ञानिकों का मत है कि बाह्य विषय तो मात्र समरूप वस्तु या समरूप स्पन्दन है। इसकी अनुभूति तथा वर्गीकरण मानसिक व्यापार या आन्तरिक घटना है। अत: नियम अपने आप में एक बौद्धिक ज्ञान है एवं बुद्धि से ही इसकी उत्पत्ति होती है।" इसके बाद स्वामीजी ने सांख्य दर्शन का एक कथन पढ़ सुनाया और दिखा दिया कि आधुनिक विज्ञान किस प्रकार इन दार्शनिक सिद्धान्तों का समर्थन करता है।[२]

शिष्यत्व-ग्रहण

'युगनायक विवेकानन्द' ग्रन्थ में लिखा है – "खेतड़ी में आगमन के कुछ ही दिनों बाद राजा अजीतसिंह स्वामीजी से मंत्रदीक्षा लेकर उनके शिष्य हो गए। उनके बीच गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ एवं मधुर था। राजा अजीतसिंह स्वामीजी को प्राणों से बढ़कर प्रेम और श्रद्धा करते थे। स्वामीजी का वे कर जोड़कर घुटने टेकते हुए अभिवादन करते तथा हर प्रकार की सेवा के लिए प्रस्तुत रहा करते थे। स्वामीजी भी आशा करते थे – इस शिष्य से भारत का अशेष कल्याण होगा; इसी से उन्होंने केवल उनके धर्म-जीवन का भार ही नहीं ग्रहण किया बल्कि लौकिक ज्ञान प्राप्ति में भी उनकी विशेष सहायता की थी। स्वामीजी के खेतड़ी में प्राय: तीन महीने (७ अगस्त से २७ अक्टूबर) रहने का सुयोग पाकर राजा ने उनसे **भौतिक विज्ञान, रसायन एवं खगोल विज्ञान का अध्ययन** किया।"[३]

सत्येन्द्रनाथ मजुमदार अपने 'विवेकानन्द-चरित' में लिखते हैं – "धर्मप्राण राजा अजीतसिंह व उनके सेक्रेटरी मुन्शीजी ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया।"

विज्ञान की शिक्षा

विज्ञान पर उनके बीच प्राय: ही चर्चाएँ होती रहती थीं। एक दिन राजा द्वारा विज्ञान पढ़ने की इच्छा व्यक्त करने पर स्वामीजी विज्ञान की प्राथमिक पुस्तकें मँगवाकर उन्हें पढ़ाने लगे। बाद में उन्होंने एक बी. ए. फेल युवक को लाकर महाराजा के विज्ञान-शिक्षा की व्यवस्था कर दी और क्रमश: सभी प्रकार के वैज्ञानिक यंत्र भी मँगाने लगे। वाकयात रजिस्टर में यत्र-तत्र इन यंत्रों का उल्लेख आ चुका है।

अंग्रेजी दैनिक 'लाहौर ट्रिब्यून' के ६ नवम्बर १८९७ ई. अंक में लिखा है – "खेतड़ी के राजा ने स्वामीजी के बारे में गहन कृतज्ञता का भाव व्यक्त की और बताया कि स्वामीजी का संग उनके लिये महान् प्रेरणा का स्रोत रहा है। उन्होंने खगोल विज्ञान तथा भौतिक शास्त्र में राजा की रुचि जाग्रत की और लगता है कि राजा तभी से उन विषयों में ज्ञानवर्धन कर रहे हैं। इसी से समझा जा सकता है कि स्वामीजी सचमुच ही कितने अद्भुत व्यक्ति हैं। एक राजपूत राजा के मन में भौतिकी तथा ज्योतिर्विज्ञान जैसे विषयों में रुचि उत्पन्न करना साधारण बात नहीं है, जबकि स्वामीजी स्वयं भी इन दोनों में से किसी भी विद्या के विशेषज्ञ नहीं हैं।"[५]

महाराजा की गुरुसेवा

महाराजा प्रतिदिन (प्राय: ही) रात को दो-तीन बजे शय्या त्यागकर स्वामीजी के पास आते और बड़ी सावधानी के साथ उनकी पदसेवा करते, ताकि कहीं उनकी नींद न खुल जाय। दिन के समय स्वामीजी उन्हें इसलिए पदसेवा का अवसर नहीं देते थे कि सबके सामने पदसेवा करने से महाराजा की गरिमा कहीं कम न हो जाय। स्वामीजी की इतनी सेवा करके और बारम्बार पूछकर भी महाराजा बहुत दिनों तक उनके पूर्वाश्रम का परिचय नहीं जान सके थे।

ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, राजा अजितसिंह की गुरुभक्ति भी उतनी ही बढ़ने लगी। यह इस प्रकार बढ़ गई कि गहरी रात में अपना बिस्तर त्यागकर वे अपने गुरु के पाँव दबाने लग गये। पहली रात नींद खुल जाने पर राजा को अपना पाँव दबाते देख स्वामीजी के आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होंने राजा को पाँव दबाने से मना किया, किन्तु राजा ने उनकी बात नहीं मानी। राजा ने सविनय निवेदन किया – "स्वामीजी, मैं आपका दासानुदास हूँ, आप मुझे इस सौभाग्य से वंचित न करें।" दिवाकाल में खुली राजसभा में भी राजा ऐसा ही सम्मान दिखाना चाहते थे; पर स्वामीजी ने ऐसी सेवा स्वीकार करने से असहमत होकर कहा था, "इससे प्रजा की दृष्टि में राजा की गरिमा कम हो जा सकती है।" ...

२. युगनायक विवेकानन्द, तृ. सं., खण्ड १, पृ. २७६-७७; ३. वही
४. Vivekananda in Contemporary Indian News, Kolkata, Ed. 1997, Pp. 331-32; 'स्वामी विवेकानन्द : नोतुन तथ्य नोतुन आलो' (बँगला), शंकरीप्रसाद बसु, कोलकाता, २००५, पृ. १३३

❖ (क्रमश:) ❖
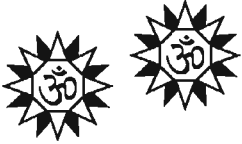
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (१०)
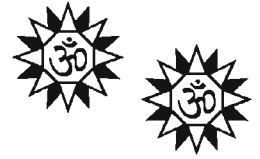
भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने । – सं.)

निर्धनों, दीन-हीनों तथा पराजितों के प्रति उनमें पागलपन की हद तक करुणा-भाव था। वे इसे शब्दों में व्यक्त नहीं करते थे, पर उन्हें देखकर ही समझ में आ जाता था कि वे स्वेच्छापूर्वक भूखों को खाने के लिये अपना मांस और पीने के लिये अपना रक्त दे सकेंगे। आज भी उनके जन्मदिन के समारोह में दीन-दुखियों की सेवा की जाती है। इस दिन उच्च जाति के ब्राह्मण तथा कायस्थ युवकों द्वारा दलितों तथा निम्न जाति के लोगों की सेवा की जाती है। पाश्चात्य देश-वाशियों को ऐसी सेवा का महत्त्व समझा पाना असम्भव है। सवर्ण और अवर्ण ! स्वामीजी को छोड़ दूसरा कौन इनके बीच इतने सहज भाव से सम्बन्ध स्थापित कर पाता? वहाँ जातिवाद और पिछड़े वर्गों को लेकर कोई तर्क-वितर्क नहीं होता। वहाँ केवल हृदय और भक्ति का साम्राज्य होता है।

जब वे अमेरिका में थे, तो उनका यह भाव छोटी-मोटी घटनाओं के माध्यम से व्यक्त हो उठता था। यथा – एक बार जब उनसे पूछा गया कि वे फ्रांसीसी भाषा क्यों पढ़ रहे हैं? तो उन्होंने संकुचित होकर कहा – "म. ल. को भूखमरी से बचाने का यही तो एकमात्र उपाय है।" एक अन्य व्यक्ति के हाथ में दस डॉलर का नोट ठूँसते हुए उन्होंने कहा – "इसे स... को दे देना, यह मत बताना कि मैंने दिया है।" जब हमारी टोली के एक दुर्बल भाई पर वेदान्त-समिति के धन की हेराफेरी का आरोप लगा, तो उन्होंने कहा – "जितना भी कम पड़ेगा, मैं उसकी भरपाई कर दूँगा।" इसके बाद वह मामला खटाई में पड़ गया और तब उन्होंने किसी से कहा था – "उस घाटे की भरपाई के लिये मेरे पास पैसे तो नहीं थे, परन्तु मैं उस बेचारे को कष्ट पाते नहीं देख सकता।"

अमेरिका से विदा होने के बाद भी वे उन लोगों के लिये चिन्तित रहा करते थे, जिन्हें वे वहाँ छोड़ गये थे और जिनके लिये जीवन कठोर संघर्षों से पूर्ण था। उन महिलाओं के प्रति तो उनकी विशेष सहानुभूति थी, जिनके ऊपर पुरुषों जैसी जिम्मेदारी थी। एक विशेष महिला स्वामीजी के नाम तथा प्रतिष्ठा का उपयोग करते हुए, एक धर्माचार्य के रूप में पूरे देश का भ्रमण करते हुए अपने लिये अनुयायी जुटा रही थी। किसी ने उनसे पूछा कि क्या इसमें उनकी सहमति है? तो वे बोले – "बेचारी ! उसे अपने पति की भी परवरिश करनी है और उसे प्रति माह इतने रुपयों की आवश्यकता है।" किसी ने कहा – "परन्तु स्वामीजी, वह दावा करती है कि उसे आपने अपनी कक्षा के लिये छात्रों को तैयार करने के लिये अधिकार दिया है। वह कहती है कि यह हम लोग उसकी दो प्रारम्भिक कक्षाओं में शामिल हों, तो इससे हम आपसे शिक्षा पाने के योग्य हो जायेंगी। वह कक्षा भी पूर्णत: निरर्थक और अप्रामाणिक है। पहली कक्षा में तो वह कुछ शारीरिक व्यायाम सिखाती है और दूसरी कक्षा में वह रहस्यवाद की पुस्तकों से संकलित कुछ उद्धरण या उक्तियाँ बताती है। क्या उसे आपके नाम का उपयोग करके लोगों को भ्रमित करने और उनका धन लेते रहने की अनुमति दी जा सकती है?" इस पर उन्होंने बस इतना ही कहा – "बेचारी ! बेचारी ! शिव ! शिव !" इस "शिव ! शिव !" के साथ उन्होंने इस विषय को अपने मन से ही विदा कर दिया था।
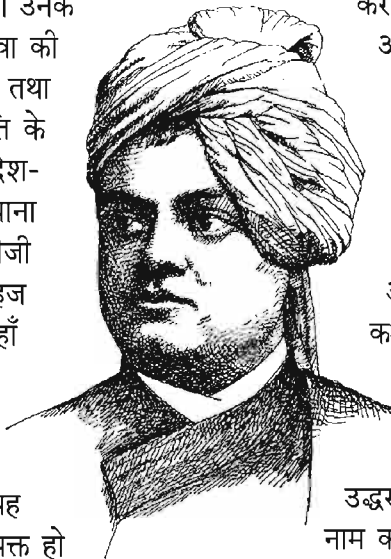
एक बार किसी ने उनसे पूछा कि यह 'शिव ! शिव !' कहने से उनका क्या तात्पर्य है, तो उन्होंने आँखें मटकाते हुए इस प्रश्न को जोर की हँसी में उड़ा दिया। यह कोई अभद्रता नहीं थी, क्योंकि ऐसे निरर्थक प्रश्न का वे भला क्या उत्तर देते? हमने देखा था कि जब किसी व्यक्ति या घटना से उन्हें मानसिक आघात पहुँचता, तो कुछ मिनटों तक उसका कष्ट भोगने के बाद वे इस 'शिव ! शिव !' के द्वारा मानो सब कुछ भुला देते थे। इससे हम समझ जाते थे कि वे अपने सच्चे स्वरूप – आत्मा का स्मरण कर रहे हैं, जिसमें सारी अशान्तिकर चीजें विलीन जाती हैं।

न्यूयार्क में एक बार दीन-दुखियों की एक टोली उनके साथ बड़ी दृढ़ता के साथ जुड़ गयी थी। एक बार टहलते समय उनकी इनके साथ एक-एक कर भेंट हुई थी। फटेहाल

लोगों का यह समूह उनके साथ वेदान्त-समिति के ५८वें मार्ग पर स्थित मकान में आया। मुख्य द्वार तक ले जानेवाली सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उनके बगल के व्यक्ति ने सोचा – "न जाने क्यों, ये ऐसे विचित्र असामान्य लोगों को आकृष्ट करते हैं?" उसी क्षण वे विद्युत् की झलक के समान पलटे और उस मौन विचार के उत्तर में बोल उठे – "देखो, ये लोग शिव के गण – भूत-प्रेत हैं।"

एक दिन वे फिफ्थ एवेन्यू से होकर टहल रहे थे। उनके सामने से होकर दो हताश वृद्ध चले जा रहे थे। वे बोले – "देखती नहीं, जीवन ने इन्हें पराजित कर दिया है !" उनके स्वर में पराजितों के प्रति दया, करुणा का भाव था ! और उसके साथ ही कुछ और भी था, क्योंकि जिस व्यक्ति ने उनका यह वाक्य सुना था, उसने तत्काल ही प्रार्थना तथा संकल्प किया कि वार्धक्य, बीमारी तथा निर्धनता के आने पर भी जीवन उसे कभी पराजित न कर सके ! और ऐसा ही हुआ भी। उनका मौन आशीर्वाद शक्ति से परिपूर्ण था।

उनकी कार्य-योजना

उन प्रारम्भिक दिनों में हम उन विचारों को समझ नहीं पाते थे, जो दिन-रात स्वामीजी के मन पर अधिकार जमाये हुए थे। वे कह उठते – "कार्य ! कार्य ! भारत में कार्य को कैसे आरम्भ किया जाय ! कौन-सा मार्ग अपनाया जाय ! संसाधनों की क्या व्यवस्था होगी !" क्रमश: इसका भावी रूप विकसित होता गया। निश्चय ही, अमेरिका से विदा लेने के पूर्व ही मार्ग, संसाधन तथा प्रणाली – सब कुछ सविस्तार स्पष्ट हो चुका था। उस समय वे जान गये थे कि समाधान धन में अथवा सामान्य ढर्रे की शिक्षा में नहीं, अपितु एक अन्य प्रकार की शिक्षा में है। मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप – दिव्य स्वरूप का स्मरण करे। यही उसके लिये सजीव अनुभूति बन जाय, तो फिर शक्ति, सामर्थ्य, पौरुष आदि सब अपने आप ही आ जायेगा। वह एक बार पुन: मनुष्य बन जायेगा। और कोलम्बो से अल्मोड़ा के बीच उन्होंने इसी सन्देश का प्रचार किया।

उनकी योजनानुसार सर्वप्रथम गंगा के तट पर एक बड़ा भूखण्ड प्राप्त करना होगा। उस पर पूजा के लिये मन्दिर, गुरुभाइयों के आश्रय तथा युवकों के प्रशिक्षण-केन्द्र के रूप में एक मठ का निर्माण होगा। उन्हें ध्यान सिखाया जायेगा और धर्मजीवन से सम्बन्धित सभी विषयों – उपनिषद्, गीता, संस्कृत तथा विज्ञान की शिक्षा दी जायेगी। कुछ वर्षों के प्रशिक्षण के बाद, मठ के अधिकारियों द्वारा यथेष्ट रूप से तैयार समझे जाने पर उन्हें नये केन्द्र बनाने, सन्देश का प्रचार करने, रोगियों की सेवा करने, अभावग्रस्तों को राहत पहुँचाने, अकाल तथा बाढ़ के समय कार्य करने और यथावश्यक हर प्रकार की राहत पहुँचाने के लिये बाहर भेजा जायेगा। इन दिनों उन्होंने जो कुछ सोचा था, उसका कितना अंश रूपायित हुआ है ! वर्तमान भारत इसका साक्षी है।

एक अकिंचन संन्यासी द्वारा इतने विराट् कार्य की योजना बनाना तब पागलपन जैसा ही प्रतीत होता था। परन्तु बाद के वर्षों में हमने इसे हर दृष्टि से पूर्णत: रूपायित होते देखा।

पिछली गर्मियों में वे ग्रीनेकर गये थे। यह मेन के समुद्र-तट पर एक स्थान था, जहाँ सत्य के शोधार्थी साल-दर-साल विभिन्न धर्मों तथा मतों के आचार्यों के उपदेश सुनने एकत्र हुआ करते थे। वहाँ एक वृक्ष के नीचे उन्होंने प्राच्य का सन्देश सुनाया और आज तक उसे 'The Swami's Pine' (स्वामीजी का चीड़ वृक्ष) कहते हैं। यहाँ पर वे अमेरिकी जीवन के एक नये पहलू को देखकर मुग्ध और उत्साहित हुए। ये उन्मुक्त तथा साहसी अद्भुत युवागण निरर्थक लोकाचारों में आबद्ध न होकर भी आत्मसंयमी थे। युवक-युवतियों के स्वाधीन मेलजोल को देख वे बड़े प्रभावित हुए और इस स्वाधीनता में अपवित्रता का लेश तक न था। वे बोले – "मैं इनके आन्तरिक मेलजोल के भाव को पसन्द करता हूँ।" कई दिनों तक उनका मन इसी समस्या में डूबा रहता। टहलते-टहलते बीच-बीच में उनके होठों से कुछ शब्द निकल पड़ते। ये शब्द किसी को सुनाने के लिये नहीं, अपितु उनके चिन्तन की अभिव्यक्ति मात्र हुआ करते थे। उनका स्वगत-कथन कुछ ऐसा रूप ले लेता –

कौन-सा अच्छा है – अमेरिका की सामाजिक उन्मुक्तता या फिर अपने सारे विधि-निषेधों के साथ भारत की सामाजिक व्यवस्था? अमेरिकी प्रणाली व्यक्तिवादी है। यह निम्नतम व्यक्ति को भी अवसर प्रदान करती है। बिना स्वाधीनता के कोई विकास नहीं हो सकता, परन्तु इसमें स्पष्ट खतरे भी तो हैं। परन्तु भूलें करके भी तो व्यक्ति को अनुभव प्राप्त हो जाता है। हमारी भारतीय व्यवस्था पूर्णत: समाज के हित की दृष्टि से बनी है। व्यक्ति को, चाहे जिस कीमत पर भी हो, इस व्यवस्था के साथ ताल-मेल बैठाना होगा। इसमें व्यक्ति को तब तक कोई स्वाधीनता नहीं है, जब तक कि वह समाज को त्यागकर संन्यासी नहीं बन जाता। इस व्यवस्था ने महान् व्यक्तियों को, आध्यात्मिक दिग्गजों को उत्पन्न किया है। परन्तु क्या यह उन लोगों की कीमत पर हुआ है, जो आध्यात्मिकता में उनसे न्यून हैं? राष्ट्र के लिये कौन-सा बेहतर है? कौन-सा? अमेरिका की उन्मुक्तता आम जनता को अवसर प्रदान करती है। यह विस्तार प्रदान करती है, जबकि भारतीय व्यवस्था गहराई लाती है। समस्या यह है कि कैसे दोनों को स्थान मिले ! किस प्रकार भारतीय गहनता को कायम रखते हुए उसे विस्तार प्रदान किया जाय?

कहना न होगा कि यह उनके लिये केवल बौद्धिक समस्या या दिमागी कसरत मात्र नहीं था। यह भारत के हित की दृष्टि से एक ज्वलन्त प्रश्न था। उन्होंने अमेरिका में सामाजिक स्वाधीनता का महत्त्व तथा प्रभाव देखा, तथापि भारतीय व्यवस्था ने जिस असीम कल्याण का सृजन किया था, उसके विषय में उनसे अधिक कौन सजग होगा! यह एक ऐसी सामाजिक संरचना थी, जिसने भारतवर्ष को युगों-युगों से जीवित रखा है और उस दौरान उतने ही महान् देशों का बारम्बार उत्थान और पतन होता रहा है। उनकी समस्या यह पता लगाने की थी कि क्या कोई ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा इस मूल संरचना को बिना कोई क्षति पहुँचाये, उसमें अन्य देशों के श्रेष्ठ तत्त्व जोड़े जा सकते हैं।

दिन-पर-दिन वे अपने कार्य पर गहराई से ध्यान करके उस पर बोलते रहते। इस मामले में स्थान, भवन, साध्य और साधन – सब कुछ आदर्श के समक्ष गौड़ थे। वे भारत के लिये भविष्य की आदर्श नारी को देखने का प्रयास कर रहे थे। उनके समान प्रबुद्ध मानस के लिये भी यह कोई हल्का-फुल्का कार्य न था, परन्तु धीरे-धीरे उसने सविस्तार आकार ले लिया। अद्भुत उपादान की ढेरी के समक्ष खड़े एक महान् मूर्तिकार के समान वे एक ऐसी मूर्ति को सजीव बनाने के प्रयास में तल्लीन थे, जैसी कि उनके पूर्व किसी भी कलाकार ने कभी कल्पना तक न की थी; एक ऐसी मूर्ति जो जगदम्बा की अभिव्यक्ति हो और जिसके माध्यम से आध्यात्मिकता की ज्योति झलक रही हो। हम मंत्रमुग्ध-सी इस कल्पना को क्रमश: परिपूर्ण आकृति ग्रहण करती देखती रहीं। कुछ अन्य भाग्यशाली लोगों ने भी इसे देखा होगा। मानो माइकेल एंजेलो शक्ति, सामर्थ्य और भव्यता की अपनी धारणा को मूर्तिमान करने हेतु अपनी छेनी-हथौड़ी लिये कार्य में लगे थे और बाद में उनका वह कार्य उनकी 'हजरत मूसा' की मूर्ति के रूप में विकसित हुआ।

महिलाओं के कार्य के बारे में वे क्या सोचते थे? निश्चय ही वह बच्चों के लिये एक स्कूल खोलने तक ही सीमित नहीं था। पहले से ही हजारों स्कूल विद्यमान थे। एक कम या अधिक होने से कुछ विशेष फर्क पड़नेवाला नहीं था। और न वह आवासीय विद्यालय चलाने जैसा कुछ था, भले ही उससे उन बालिकाओं को आश्रय देने की आवश्यकता की पूर्ति हो जाती, जिनके माता-पिता उनका विवाह कराने में असमर्थ थे। न वह विधवाश्रम ही था, भले ही उससे भी एक उपयोगी उद्देश्य की पूर्ति होती। अब तक जितने भी प्रकार के कार्यों के लिये प्रयास हुए हैं, यह उनमें से किसी का भी नकल नहीं था। तो फिर यह क्या था? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये केवल इतना ही पूछना आवश्यक है – विश्व के लिये और विशेषकर वर्तमान भारत के लिये श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द के आविर्भाव का क्या तात्पर्य है? आध्यात्मिकता के प्रसार से जिस नवीन शक्ति, नवीन जीवन का आगमन हुआ है, वह केवल पुरुषों के लिये ही नहीं था। तो फिर इसे कैसे भारत की नारियों तक पहुँचाया जाय? उन्हें ऐसी मशालों के रूप में कैसे प्रज्वलित किया जाय, जिनसे करोड़ों दूसरी भी ज्योति ग्रहण कर सकें? यही उनकी सबसे बड़ी चिन्ताओं में से एक थी। वे कहते – "इस कार्य के लिये एक नारी की आवश्यकता है, कोई भी पुरुष इसे नहीं कर सकता। परन्तु वह नारी है कहाँ?"

जब वे भारत का भ्रमण कर रहे थे, उन पहले के दिनों में भी वे उस नारी की खोज कर रहे थे, जो उनकी आवश्यकता की पूर्ति कर सके। एक-एक कर कइयों का परीक्षण किया गया, पर उनमें से कोई भी योग्य साबित नहीं हुई। उनमें से एक से उन्हें बड़ी उम्मीद थी, उसके विषय में जब उनसे पूछा गया – क्या वह भी नहीं? तो उन्होंने उत्तर दिया था – "देखो, उसमें अपना खुद का ही कार्य करने की प्रवृत्ति है।" इसमें कोई आलोचना नहीं, अपितु वास्तविकता का निरूपण मात्र था। ऐसा बारम्बार हुआ कि जिस किसी के अन्दर उन्होंने उसकी अन्तर्निहित शक्ति को जगाने का प्रयास किया, वह उनसे नि:सृत शक्ति को अपना स्वयं का समझ बैठी और उसे लगा कि उन परिस्थितियों में वे भी अपनी महानता प्रकट कर सकेंगी। वे उनका नहीं, अपना ही कार्य करना चाहती थीं। किसी ऐसी को ढूँढ़ निकालना आसान नहीं था, जो समुचित आध्यात्मिक तथा बौद्धिक योग्यताओं से युक्त हो और साथ ही जिसमें शिष्य की श्रद्धा हो, नि:स्वार्थता हो और जो उस प्रज्वलित ज्योति को दूसरों तक बढ़ा सकती हो। कोई ऐसी प्राप्त होने पर, उसे प्रशिक्षित करने के बाद, उसे अन्यों को प्रशिक्षित करना होगा और उनमें से पाँच या छह कार्य को जारी रखने तथा उसका विस्तार करने में सक्षम होंगी। ये पाँच-छह महिलाएँ जहाँ एक ओर सर्वोच्च आध्यात्मिकता से सम्पन्न तथा असाधारण बौद्धिक क्षमता से युक्त होंगी, वहीं उनमें प्राचीन तथा नवीन के श्रेष्ठ तथा उत्कृष्टतम तत्त्वों का समन्वय होगा। यही उनका लक्ष्य था। प्रश्न था कि इसे कैसे सम्पन्न किया जाय? किस प्रकार की शिक्षा उनका निर्माण कर सकेगी?

जिन्हें उनका कार्य करना हो, उनमें पवित्रता, शिष्यत्व और श्रद्धा के गुण होना अनिवार्य था। वे बहुधा और सर्वदा बड़े मार्मिक भाव से कहते – "मुझे पवित्रता से लगाव है।" वे कहते – "सारे प्रयास सीता के आदर्श पर आधारित होने चाहिये। सीता, जो पवित्रता से भी बढ़कर पवित्र थीं, सतीत्व की प्रतिमूर्ति थीं, धैर्य और सहनशीलता से परिपूर्ण, वे ही भारतीय नारियों की आदर्श हैं। वे भारतीय नारी की ठीक वैसी ही प्रतिरूप हैं, जैसा कि उन्हें होना चाहिये, क्योंकि पूर्णता-

प्राप्त नारी के सभी भारतीय आदर्श एकमात्र सीता के जीवन में ही केन्द्रीभूत हैं और वे हजारों वर्षों से पूरे आर्यावर्त के हर नर-नारी तथा बालक की पूजा ग्रहण करती हुई विराजमान हैं।

पवित्रता के बारे में वे निरन्तर बोलते रहते, परन्तु उसके साथ ही कभी-कभी एक अन्य गुण का भी आभास देते, जो सीधे-सीधे नारित्व से सम्बन्धित नहीं है, तथापि वे जो कहानियाँ बताते, उनसे हम समझ जातीं कि उनके मतानुसार उसके बिना नारी का कोई भी रूप परिपूर्ण नहीं होगा। वे बारम्बार उस राजपूत पत्नी की कथा बताते, जो अपने पति को कवच पहनाते हुए बोली थी, "या तो तुम इस कवच के साथ आना, या फिर वीरगति को प्राप्त होकर लौटना।" कितनी सजीवता के साथ वे राजपूत महारानी पद्मिनी की कहानी सुनाते! वह परम सुन्दरी अपने समस्त रूप-लावण्य, कान्ति, मृदुता के साथ हमारे सम्मुख जीवन्त हो उठती। उस वीर जाति की प्रत्येक नारी मुसलमान आक्रान्ता के कामुक दृष्टि का सामना करने के स्थान पर मृत्यु का आलिंगन करने को दौड़ पड़ती थी। अपने प्रियतम के प्राणों के लिये भय से काँपती हुई अबला के प्रति सहानुभूति जताने के स्थान पर वे कहते – "एक राजपूत पत्नी के समान बनो!"

सवाल यदि केवल कॉलेज की डिग्री का होता, तो उसे धारण किये हुए बहुत-सी महिलाएँ पहले से ही विद्यमान थीं। उनके पास आनेवाले युवकों में कुछ डिग्रीधारी भी होते थे; उन सभी को प्रशिक्षण की आवश्यकता थी। जो कुछ उन्हें सिखाया गया था, उसमें से काफी कुछ भुलाना था। पुराने आदर्शों के स्थान पर नये आदर्श स्थापित करने थे और नये उद्देश्यों तथा नये लक्ष्यों पर ध्यान केन्द्रित करना था। चित्त शुद्ध हो जाने पर ही वह आध्यात्मिकता को धारण करने के उपयुक्त हो सकेगा और तब उपदेश, वार्तालाप तथा सर्वोपरि अनुभूति-सम्पन्न लोगों के सजीव सान्निध्य के द्वारा उसमें आध्यात्मिकता का संचार हो सकेगा। इस प्रकार उनका क्रमश: रूपान्तरण होगा और वे लोग सन्देश प्रदान करने तथा कार्य को जारी रखने के उपयुक्त हो जायेंगे। यद्यपि बौद्धिक उपलब्धियों के महत्त्व को वे कम करके नहीं आँकते थे, तथापि उनकी दृष्टि में उसका स्थान गौण था।

पढ़ना-लिखना वह कुंजी है, जो महान् आदर्शों तथा उदार दृष्टिकोण के खजाने के द्वार को खोल सकती है। क्योंकि केवल स्कूल खोलना या संस्था गढ़ना उनकी योजना नहीं थी, अपितु वे उससे कुछ बहुत बड़ा करना चाहते थे, जिसे सहज ही कोई नाम या परिभाषा नहीं दिया जा सकता, ऐसा कुछ जो भविष्य में हजारों-लाखों संस्थाओं को सम्भव बना सकेगा। संक्षेप में कहें तो यह एक नये प्रकार के शिक्षकों के सृजन का प्रयास था। शिक्षा केवल किताबी नहीं, अपितु युग की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाला हो; इसे बौद्धिक, राष्ट्रीय तथा आध्यात्मिक होना चाहिये। इसे प्रारम्भ करनेवाले लोग जब तक अपनी मशालों को उस अग्निकुण्ड से प्रज्वलित नहीं कर लेते, जिसकी अग्नि ऊपर से आयी है, तब तक उनका कार्य निरर्थक होगा। इसीलिये शिष्यत्व आवश्यक है। सभी लोग अग्निकुण्ड तक नहीं पहुँच सकते, परन्तु एक मशाल से सैकड़ों, हजारों मशाल जलाये जा सकते हैं। आध्यात्मिकता का सम्प्रेषण होना चाहिये। इसे अर्जित नहीं किया जा सकता, यद्यपि नियमित साधना – ध्यान, अनुभूति-सम्पन्न लोगों का संग, शास्त्रों तथा अन्य पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन भी आवश्यक है।

उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा कि गुरु के प्रति निष्ठा भी एक आवश्यक गुण है; परन्तु अब, इतने दिनों के बाद, सिंहावलोकन करते समय, हमें समझ में आता है कि वह कितना आवश्यक है। स्वामीजी ने किसी भी प्रकार की कोई माँग नहीं रखी। मानव में निहित देवत्व के प्रति उनका सम्मान या बल्कि पूज्यता का भाव इतना सच्चा और इतना गहन था कि उनका मानसिक दृष्टिकोण सर्वदा यही कहता – "कदापि नहीं।" वे अन्ध-समर्पण नहीं चाहते थे। वे गुलाम बनाना नहीं चाहते थे। वे कहा करते – "मैं अपने कर्मियों के कार्य में जरा भी हस्तक्षेप नहीं करता। कार्य कर सकने वाले प्रत्येक व्यक्ति में अपना स्वयं का वैशिष्ट्य होता है, जो किसी भी दबाव का प्रतिरोध करता है। इसीलिये मैं अपने कर्मियों को बिल्कुल मुक्त छोड़ देता हूँ।" यद्यपि उनमें प्रभुत्व का भाव था, तथापि उनमें ऐसा कुछ भी था, जो उनके इस गुण को नियंत्रण में रखता था और वह था – मानव के वास्तविक स्वरूप के प्रति श्रद्धाभाव।

इसलिये नहीं कि वे सभी मनुष्यों की समानता में विश्वास करते थे, जैसा कि हम बहुधा बात-बात में उस कहावत का उल्लेख किया करते हैं, बल्कि इसलिये कि उन्हीं के महान् सन्देश की भाषा में सभी लोग अव्यक्त ब्रह्म हैं। परन्तु उसकी अभिव्यक्ति में बहुत भेद है। सभी लोगों को समान अधिकार नहीं, बल्कि समान अवसर मिलने चाहिये। अपनी महान् करुणा के कारण उन्होंने सबसे निचले स्तर के, सर्वाधिक पीड़ित लोगों को उन लोगों से अधिक दे दिया होता, जिन्होंने अपने ब्रह्मभाव को अधिक मात्रा में व्यक्त कर लिया है। वे जानते थे कि उन लोगों को अधिक की आवश्यकता थी। क्या उनके जैसा व्यक्ति किसी अन्य की इच्छा पर नियंत्रण कर सकता था? यद्यपि वे भक्ति-निष्ठा का दावा नहीं करते थे, परन्तु वह परम आवश्यक था और वह इस बात में था कि उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार किया जाय। उनके प्रति श्रद्धा तथा प्रेम स्वाधीन इच्छा का स्थान ले लेगा।

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा २००५ ई. में आयोजित प्रतियोगिताओं में छात्रों द्वारा प्रदत्त कुछ महत्त्वपूर्ण व्याख्यान

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली

कुमारी शिवना तिवारी

आदरणीय अध्यक्ष महोदय, समादरणीय स्वामीजी, प्रबुद्ध निर्णायक गण एवं श्रोताओ, इस सदन की राय में – ''***वर्तमान शिक्षा प्रणाली मानव जीवन को सफल एवं सुखी बनाने में समर्थ नहीं हैं***'' किन्तु मैं इस कथन से कतई सहमत नहीं हूँ । इस शिक्षा-प्रणाली की बुनियाद अँग्रेजों के शासन-काल में लॉर्ड मैकाले ने रखी थी, पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस शिक्षा-प्रणाली में सुधार हेतु समय-समय पर अनेक आयोग एवं समितियाँ गठित होती रहीं हैं और जब से शिक्षा-विभाग 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' के अधीन आया है, तब से इसे जीवनोपयोगी एवं विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के अनुरूप बनाया गया है । हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली बहु-आयामी है । इस शिक्षा में व्यावसायिक शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, प्रौद्योगिक शिक्षा, सैनिक शिक्षा, चिकित्सीय शिक्षा, गृह-विज्ञान शिक्षा व प्रौढ़ शिक्षा ऐसे अनेक विकल्प हैं जो न केवल आपके जीवन को सुखी व सफल बना सकते हैं, बल्कि अपने समाज व अपने राष्ट्र को भी सही दिशा देकर उच्च शिखर पर पहुँचा सकते हैं । आवश्यकता है तो केवल आपके लगन की, आपके मेहनत की व आपके सच्चे मन की –

जिनका मन निर्मल होता है,
जीवन गंगा जल होता है ।
मेहनत-कश लोगों का यारों,
सदा सुनहरा पल होता है ।।

मेरे विपक्षी वक्ताओ, यदि हमारी शिक्षा-प्रणाली में दोष होता, तो आप इस मंच पर खड़े होकर वाद-विवाद करने के काबिल नहीं होते । अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाइये, वरना आप गला फाड़-फाड़कर शिक्षा-प्रणाली का दोष गिनाते रहेंगे और आपका दोस्त, आपका पड़ोसी, आपका रिश्तेदार इसी शिक्षा-प्रणाली के द्वारा देश के किसी उच्च पद पर आसीन होकर या किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी में सेवा देते हुए अपना जीवन सफल व सुखी बनाकर आपको अंगूठा दिखायेंगे । मेरे दोस्तो, अतीत की बातों को छोड़िये व वर्तमान की ओर निहारिये, तभी तो सुखी हो पायेंगे ।

लो अतीत से उतना ही, जितना पोषक है ।
जीर्ण-शीर्ण का मोह, मृत्यु का द्योतक है ।।

भारतीय शिक्षा-पद्धति ने अपने देश को अनेक महान् शिक्षा-विद्, वैज्ञानिक, समाज-सुधारक, चिन्तक व राजनेता दिये हैं, जिनकी विश्व में कोई शानी नहीं है । हमारे मिसाइल राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे अब्दुल कलाम, अर्थशास्त्री प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह, उत्कृष्ट साहित्यकार एवं विचारक पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी और विश्व को चकित कर देनेवाले महान् चिन्तक स्वामी विवेकानन्द की बुनियादी शिक्षा भी इसी प्रणाली की देन है ।

मेरे विपक्षी बन्धुओ, आज की शिक्षा-प्रणाली नहीं, बल्कि आपकी अकर्मण्यता, आपकी नकारात्मक सोच ही है जो आपके जीवन को सुखी व सफल बनाने से रोकती है । शिक्षा-प्रणाली को दोष देना छोड़कर अपना दृष्णिकोण बदलिए एवं इसी प्रणाली से सही शिक्षा ग्रहण कर जीवन को जीना सीखिये, देखिये सफलता कैसे आपके कदम चूमती है –

जिसने जीना सीख लिया हो,
जीने का अधिकार उसी को ।
जो काँटों के पथ पर आया
फूलों का उपहार उसी को ।।

****

कुमारी लक्ष्मी कांगे

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली सुख और सफलता का आधार नहीं है, शायद भ्रमवश ऐसा कह रहे हैं । क्योंकि –

ये ऐसी चीज है, जिसका
मूल्यांकन किया नहीं जा सकता ।
जैसे बिन खेवइया नाव से
लक्ष्य तक पहुँचा नहीं जा सकता ।।
जीवन की धुरी है यह
ऊँचे मंजिल का पायदान है ।
की साधना इसकी जिसने
उसको दुर्गम लक्ष्य आसान है ।।

श्रोताओ, सर्वप्रथम यदि आप सोचते हैं कि शिक्षा-प्रणाली कोई चलित यंत्र है, जो आपका हाथ पकड़कर आपकी मंजिल तक ले जाएगी, तो यह गलत है । यदि ऐसा होता तो बीते हुए दिनों में अब्राहम लिंकन सड़कों पर कोयला नहीं घिस रहे होते ! यह तो उनकी काबिलियत थी, जिसे नवाजा गया था ।

जहाँ तक शिक्षा-प्रणाली में तुलना करने की बात है तो पहले की शिक्षा को एक प्रकार से तानाशाही शिक्षा-प्रणाली कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि उस जमाने में शिक्षा प्राप्त करना

समाज के एक विशेष-वर्ग के लिए ही सम्भव था। आज प्रत्येक वर्ग को शिक्षा का समान अवसर प्रदान कर सुखी जीवन दिया जा रहा है। अध्यक्ष महोदय, मैं स्वयं एक दलित वर्ग की छात्रा हूँ। आज वर्तमान शिक्षा-पद्धति का ही परिणाम है कि यह दलित छात्रा आज आप लोगों के समक्ष अपने विचार रख पा रही है। स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली समाज के एक हिस्से को सुखी और सफल जीवन प्रदान करने में नि:सन्देह समर्थ है।

विद्वानों का मत है कि शिक्षा-प्रणाली में हमारी भारतीय संस्कृति और वेदों की दुर्लभ क्रियाओं को भी शामिल होना चाहिये तथा इस दिशा में भारत सरकार तथा कई राज्य सरकारों द्वारा उठाए गए कदम भी प्रशंसनीय हैं। आज कई निजी तथा अँग्रेजी माध्यम के ऐसे भी विद्यालय हैं जो आज योग-साधना, अध्यात्म तथा मानवीय संस्कारों जैसी ज्ञान को एक विषय का रूप दे चुके हैं तथा दे रहे हैं। सुखी और सफल जीवन का तार कहीं-कहीं इन सब चीजों से अवश्य जुड़ा है।

चलिए दूसरी बातें सोचते हैं, जो मेरे कई विपक्षी कहना चाह रहे हैं कि 'पढ़ना-लिखना, नौकरी पाना'। तो मैं कहूँगी, केवल पढ़-लिखकर, नौकरी पाकर ही जीवन सुखी नहीं बन जाता। धन-दौलत से परे होकर जरूरत होती है संस्कार, नैतिकता और मानवता की और इसके लिए जरूरत है एक संस्कारी परिवेश की। लेकिन आज समाज का हिस्सा भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी, बेईमानी, दो-मुहेपन जैसे अनैतिक कार्यों में लिप्त है, फिर बात आती है आज के लाइलाज राजनीति की जिसमें कुर्सी के एक-एक स्तभों के लिए लोग अपनी हजारों कराहों को भूल जाते हैं। समाज के अन्दर जहाँ हमें रहना है, वहीं कई प्रकार की समस्यायें हैं, तो शिक्षा प्रणाली को दोष क्यों दे?

आज कई सर्वेक्षणों से पता चलता है कि मौजूदा पीढ़ी की सोच, जीने का तरीका, ज्यादातर उदार, ईमानदार और स्पष्टवादी है। आज की पीढ़ी की कुशाग्रता, लगन, आत्मविश्वास और जिज्ञासा बेशक काबिले-तारीफ है और यह वर्तमान शिक्षा-पद्धति का ही परिणाम है। स्वामीजी कहते थे, समय और समाज के बदलते स्वरूप के कारण धर्मात्मा के धर्म में भी आक्रमकता होनी चाहिए। विज्ञान स्वयं को निर्दोष साबित करते हुए कहता है कि उसने बम और मिसाइल बनाने के लिए तो कभी कहा ही नहीं, यह तो मनुष्य के विवेक पर निर्भर करता है कि वह मेरा उपयोग कैसे करे। फिर क्यों मेरे विपक्षी साथी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को जीवन के सुख और सफलता का आधार नहीं मान रहे हैं। अन्त में इतना ही कहूँगी –

आज युवाओं के उद्घोष से
गूँजता गगन बारम्बार है।
वर्तमान शिक्षा-प्रणाली जीवन की
सुख और सफलता का आधार है।
राष्ट्र को उन्नतिशील बनाता है
यह करता स्वप्न साकार है।
वर्तमान शिक्षा-प्रणाली वास्तव में
सुख और सफलता का आधार है।।

****

यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते

कमल कान्त चन्द्रवंशी

सत्-सत् नमन है इस भरत भूमि को,
जिसने दिया जन्म स्वामी विवेकानन्द को।
हर युवा ने बना लिया अपने जीवन का आदर्श,
विश्व-वरेण्य स्वामी विवेकानन्द को।।

दूसरी सहस्राब्दी में विदेशी आक्रमण, पराधीनता, बेरोजगारी, निरक्षरता का शिकार हुए समाज के युवा-वर्ग मानवीय मूल्य-विहीन भ्रष्टाचारपूर्ण वातावरण में रहते-रहते टूट चुका है। विभ्रान्त दिशाहारा और आत्मग्लानि से भरा हुआ, वह जोश खो चुका है। भारत में अर्थव्यवस्था, राजनैतिक स्वच्छता, शिक्षा-प्रणाली की गहनता, संस्कृति और परम्परायें आज लुप्त होती जा रही हैं। ऐसे समय में स्वामी विवेकानन्द की वाणी, आशा की किरण फैलाती है, युवकों के हृदय में हर्ष-उल्लास-उमंग भरती है तथा उसे आनन्द और सुख के पथ पर यथार्थ दिशा की ओर परिचालित कर उसमें आत्मविश्वास और आत्मश्रद्धा बढ़ाने में समर्थ है, सक्षम है।

जी हाँ श्रोताओ, यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते तो एक सुन्दर, भयहीन, आंतकहीन, अत्याचार-मुक्त सत्य, धर्म, न्याय पर आधारित मानवीय मूल्यों से सुसज्जित और आनन्द और सुख से परिपूर्ण जीवन की गणना करने के लिए उनकी वाणी भारत के वायु-मण्डल में गुँजती रहती। यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते आज की ज्वलंत प्रमुख समस्याएँ कब की दूर हो गई होतीं।

आज हमारा देश बड़ी संकट की घड़ी से गुजर रहा है। वह देश जहाँ ऋषि-मुनि वेदों के गुण गाया करते थे, वह देश जहाँ के लोग सत्य, धर्म और न्याय के पथ पर चलते रहे, वह देश जहाँ त्याग और सेवा ही जिनके दो मुख्य आदर्श रहे, आज उसी देश के लोग चोरी, घुसखोरी, लूटपाट जैसे हिंसात्मक कार्यों में रत हो गए हैं। यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते तो अन्याय और बर्बरता की चक्की में पीसते हुए लोगों को उचित न्याय मिलता। यह देश सुरक्षित हाथों में जाता देख अपने भाग्य को सराहता, सँवारता।

यदि आज वे होते तो पश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध में चौंधियाई आँखों से भारत-भारती उत्तेजनाओं तथा मादकता का शिकार नहीं होती तथा इस खोखले वातावरण में जो उसे चंचल और अशान्त बना रहा है से कभी सन्तुष्ट नहीं होती। यदि आज वे होते तो वेदान्त के सार्वभौमिक शाश्वत तत्त्व पर मानवता तथा मानव सेवा की सच्ची व्याख्या होती, जिससे मनुष्य का चारित्रिक विकास होता और समूचे राष्ट्र का कल्याण भी होता।

अध्यक्ष महोदय, यदि आज स्वामी विवेकानन्द जी होते तो भारत की उज्ज्वल भविष्य की कामना के लिए जिस अवनति के युग से हमें गुजरना पड़ रहा है, आज उस युग में ही भारत अंकुरित हो चुका होता, नए पल्लव निकल चुके होते तथा एक विशालकाय शक्तिधर, उर्ध्वमूल वृक्ष का निकलना शुरू हो चुका होता। यदि आज वे होते तो

भारत में कृषक, चर्मकार, मेहतर जैसे निम्न वर्ग के लोगों को अपनी उन्नति करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होता। जाति, धर्म, भाषा के नाम पर मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं होता। यदि वे होते तो, राष्ट्र की राष्ट्रीयता के लिए जिस तेज की हमें आवश्यकता होती, वह तेज निश्चित रूप से उनसे प्राप्त होता ही।

स्वामी विवेकानन्द को उस कमल के समान बताया जा सकता है, जो तालाब के दलदल में रहते हुए भी अपनी सुन्दरता एवं गुणवत्ता से दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करता है। ठीक उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द अपने व्यक्तित्व और शिक्षा के आधार पर अज्ञानता रूपी दलदल में फँसे हुए लोगों को ज्ञान के मार्ग पर प्रेरणा देने के समान हैं।

अध्यक्ष महोदय, यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते तो हमारा राष्ट्र ब्रह्माण्ड में स्वर्ग-लोक की तरह विकसित रहता तथा सभी लोग सुख-चैन का अनुभव करते। अन्त में मैं इतना ही कहूँगा –

हर कली हमसे खुशबू उधार माँगती,
चाँदनी हमसे नूर उधार माँगती।
स्वामी विवेकानन्द अपना परचम
विश्व में ऐसा लहराते
हर राष्ट्र स्वामी विवेकानन्द को
हमसे उधार माँगते।।

****

कुमारी शिवना तिवारी

कदम-कदम पर मन भारी है,
खेल सियासत का जारी है।
फटेहाल वह घूम रहा है,
जिसमें थोड़ी खुद्दारी है।

आज की प्रतियोगिता का विषय है – ***यदि आज स्वामी विवेकानन्द जी होते !*** पर मैं तो मानती हूँ कि विवेकानन्द जी आज भी हैं। क्योंकि मैं उन्हें एक व्यक्ति से अधिक एक विचार व शक्ति का स्त्रोत मानती हूँ। उनके विचार आज भी प्रासंगिक हैं। मैं उनके विचारों में उनकी शक्ति व आत्मा को महसूस करती हूँ, पर हाँ, यदि आप उनकी भौतिक उपस्थिति की बात करें, तो नि:सन्देह आज एक और बेहतर भारत का निर्माण हुआ होता, क्योंकि आज उन जैसा विराट् व्यक्तित्व नहीं है। उनके जैसा विशाल प्रेम व भातृत्व भावना नहीं है।

स्वाधीनता प्राप्ति के इतने वर्षों बाद हमने भले ही विज्ञान, कृषि व अन्य कुछ क्षेत्रों में बहुत अधिक प्रगति की हो, पर आज भी हम गन्तव्य की ओर नहीं बढ़ पा रहे हैं। वह चूक आखिर क्या है? चूक यह है कि हमारे पास स्पष्ट मानचित्र नहीं है। हमें समग्र दृष्टि एवं परिप्रेक्ष्य से सम्पन्न महान् दूरदर्शी शिल्पी की जरूरत है, और वह है – स्वामी विवेकानन्द। अत: यदि आज वे होते तो ऐसे राष्ट्र का निर्माण सम्भव होता जिसमें ब्राह्मण-काल का ज्ञान, क्षत्रिय-काल की सभ्यता, वैश्य-काल का प्रचार भाव और शूद्र-काल की समानता रखी जा सकती। उनके गुण-दोषों को त्याग कर आदर्श राष्ट्र का निर्माण हुआ होता।

यदि आज स्वामीजी होते, तो आज का युवावर्ग दिग्भ्रमित न होकर शक्तिशाली राष्ट्र-निर्माण में जुटा होता। स्वामीजी के अनुसार – **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** – अर्थात् उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्ति के बिना रुको मत।

जीवन कर्म सहज भीषण है
उसका सब सुख केवल क्षण है।
यद्यपि लक्ष्य अदृश्य धूमिल है
फिर भी वीर हृदय हलचल है।
अन्धकार को चीर अभय हो
बढ़ो साहसी जग विजयी हो।

हमारे समाज में नारी-जाति आज भी उचित सम्मान, अपनी पहचान के लिए संघर्षशील है। यदि आज स्वामीजी होते, तो नारी-उत्थान की दिशा में राजनैतिक दिखावे के बजाय सच्चा प्रयत्न करते।

आज हमारे देश के तटीय प्रदेशों में हजारों लोग सुनामी लहरों की भेंट चढ़ गए। जो बच गए वे पुन: स्थापित होने के लिए सरकारी संगठनों और स्वयंसेवी संस्थाओं की ओर आशाभरी निगाहों से टकटकी लगाये देख रहे हैं। यदि आज स्वामीजी होते, तो राहत-सामग्रियों और राहत-दलों को भेजकर अपना कर्तव्य पूरा समझने के बजाए स्वयं गरीबों-पीड़ितों के बीच रहकर उनकी मदद करते, क्योंकि वे कहते थे – "मैं तो उसी को महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय गरीबों के लिए रोता है, अन्यथा वह तो दुरात्मा है।"

आज धर्म जो कतिपय लोगों की निजी सम्पत्ति बनकर रह गया है, स्वामीजी उसे जन साधारण के बीच प्रचारित करते तथा सर्वजन की सम्पत्ति बनाते। अन्त में मैं केवल यही कहूँगी –

ध्यान जाता है जब देश पर,
तब देखती हूँ विवाद तगड़ा है,
कहीं भाषा के लिए लड़ते हैं,
तो कहीं सूबों का खड़ा झगड़ा है।
कहीं जातिवाद की उलझन,
तो कहीं सम्प्रदाय छाया है,
साथ रह रहे हैं सदियों से,
फिर भी साथ रहना न आया है।।

****

आधुनिक विश्व को स्वामी विवेकानन्द की देन

हिमांशु जैन
(इंजीनियरिंग कॉलेज, रायपुर)

हर सुमन में सुरभि का वास नहीं होता,
हर दीपक का मनहर प्रकाश नहीं होता।
हर किसी को प्राण अर्पित किये जा सकते नहीं,
हर एक का जीवन मुस्काता मधुमास नहीं होता।।

विश्व मानवता के प्रखर गायक स्वामी विवेकानन्द के दिव्य जीवन और उनकी देन पर कुछ कहना वास्तव में किसी मुस्कुराते मधुमास के आनन्द लोक की यात्रा करना है। यह सच है कि भगवान भुवन भास्कर

के आगमन से सम्पूर्ण विश्व का अंधकार क्षण भर में दूर भाग जाता है, परन्तु यह भी तय है कि दिवस के अवसान के साथ प्रचण्ड मार्तण्ड को भी क्षितिज की ओट में छुप जाना पड़ता है, लेकिन स्वामी विवेकानन्द का जीवन, मात्र किसी बाल-भास्कर या अस्ताचल-गामी सूर्य का जीवन नहीं है, वह तो दिन-रात प्रभासित और प्रकाशित होने वाले ऐसे महासूर्य का जीवन है, जिसके आदि और अन्त का पता लगाना सम्भव ही नहीं है । आधुनिक विश्व और अर्वाचीन मानवता स्वामी विवेकानन्द के उपकारों से इस प्रकार धन्य है कि उसे वाणी से व्यक्त करना असम्भव प्रतीत होता है, फिर भी जो शब्दों से परे है उसे शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास मनुष्य ही करता है, मेरी कोशिश भी उसी शृंखला की एक विनम्र कड़ी है ।

स्वामी विवेकानन्द की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने मनुष्य मात्र की सोयी हुई चेतना को जगाया, क्योंकि जो सोया है, वह अमानव है और जो जाग रहा है, उसे ही मानव कहलाने का अधिकार है । दूसरी बात, स्वामीजी ने राष्ट्र के खोये हुए गौरव को फिर से ढूँढ़कर, हमें ही हमारी खोई हुई अस्मिता वापस लौटी दी ।

इतना ही नहीं, उन्होंने मनुष्य मात्र की पहचान के संकट से भी मानव जाति को उबारा और मनुष्य, केवल मनुष्य के रूप में हमें जीने की राह बताई । शोषण, अत्याचार, गरीबी, छुआछूत, अशिक्षा और किसी भी प्रकार की दासता के विरुद्ध खड़े होने की ताकत, जूझने का मनोबल और जीतने का ज़ज्बा स्वामीजी की ऐसी देन है जिसमें विश्व के तमाम सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक दर्शनों का सार निहित है । पाश्चात्य की अँधेरी गलियों में भटकती हुई नई पीढ़ी को प्राच्य के सात्त्विक वैभव के पास लाकर स्वामीजी ने दिग्भ्रमित युग को स्वर्णिम दिशा प्रदान की है । अत: नरेन्द्र से स्वामी विवेकानन्द बनने की कहानी बूँद से सागर बनने की महागाथा है और स्वामी विवेकानन्द एक ऐसे महासागर हैं, जिनमें आकर हरेक बूँद सागर बन जाती है ।

विश्वमानव स्वामी विवेकानन्द आधुनिक विश्व को गढ़नेवाले एक ऐसे महापुरुष हैं, विश्व धर्म के ऐसे प्रवक्ता हैं, वैश्विक चेतना के ऐसे पुरोधा हैं, जिनकी तुलना केवल शंकर और रामानुज जैसे आचार्यों से ही हो सकती है । परन्तु समकालीन अनेक सन्तों से वे नि:सन्देह अधिक महत्वपूर्ण हैं और राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती, केशवचन्द्र सेन जैसे प्रखर समाज सुधारकों की जीवन धारा को अपने अद्‌भुत गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस जी की छत्र-छाया में स्वामीजी ने विश्व-धरा पर कुछ इस प्रकार प्रवाहित किया कि सम्पूर्ण मानवता उससे आप्लावित हुए बिना नहीं रह सकी ।

१९वीं शताब्दी के उत्तर काल में और २०वीं शताब्दी के पहले दशक में तमाम धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक वैभव के लोप हो जाने का खतरा उत्पन्न हो गया था ।

विश्वमानव स्वामी विवेकानन्द ने जगत को स्वाभिमान का पाठ पढ़ाया, संस्कृति का मूल्य बताया और उस जीवन दर्शन को अपनाने की सीख दी, जिससे जीवन नया बनता है, जगत् नई राह पर चलता है और दोनों के बीच नवनिर्माण का रिश्ता कायम होता है । आधुनिक विश्व की सबसे बड़ी समस्या है – विकास की चरम ऊँचाइयों को छूते हुए भी पाँव के नीचे की जमीन को बचाये रखने की मुश्किल । कुण्ठा, निराशा, हताशा, अलगाव और आत्महत्या जैसे आधुनिक विश्व की पहचान बन गये हैं । टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरती हुई मर्यादा, घात-प्रतिघात, विश्वासघात, मनुष्य की आत्महन्ता नियति ने बारूद के ढेर पर बैठी हुई दुनिया को बाहरी तबाही से पहले ही भीतरी विनाश का मंजर दिखा दिया, ऐसे समय में स्वामीजी का सन्देश ही एकमात्र सहारा मालूम पड़ता है । क्योंकि सारी समस्याओं की जड़ में इंसान और इंसान के बीच दूरी ही मुख्य रूप से जिम्मेदार है । स्वामीजी ने तो यहाँ तक कह दिया – 'जिन देवी-देवताओं को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ते-रहते हैं, और जिस विराट देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, उनकी पूजा ही नहीं करते । सबसे पहले जिसे तुम अपने चारों ओर देख रहे हो उसकी पूजा करो, ये मनुष्य और पशु जिन्हें हम आसपास और आगे-पीछे देख रहे हैं, ये ही हमारे ईश्वर हैं ।' स्वामीजी ने प्रेम और सेवा का सन्देश दिया । उन्होंने दीन-दरिद्रों की उन्नति, शिक्षा के व्यापक प्रसार, चिकित्सा सेवा के विस्तार इत्यादि का प्रचार किया । इस संकल्प का जीवन्त मिसाल रामकृष्ण मिशन है । वे चाहते थे कि अपना देश और सारा विश्व अपनी-अपनी जगह पर अपने पाँवों पर खड़े हों । स्वामी विवेकानन्द ने समूचे विश्व को अतीत और वर्तमान के बीच सम्बन्ध और समन्वय की स्थापना कर जीने की कला बताई । स्वामीजी ने कभी भी अहं-पोषण को बल नहीं दिया । अपने चरित्र मात्र को उदाहरण बनाने की कोशिश नहीं की, बल्कि संसार के प्रत्येक मनुष्य को विश्वमानव कहकर पुकारा । स्वामीजी का व्यक्तित्व केवल विशाल और विराट् ही नहीं, सही अर्थों में वैश्विक था । नेहरू जी ने कहा है कि प्रत्येक विचार को इतना व्यापक होना चाहिए कि वह समूचे संसार को ढँक ले, प्रत्येक महत्वाकांक्षा को इतनी बढ़ानी चाहिए कि वह समूची मानवता को ही नहीं, अपितु समूचे जीवन को अपना ले । स्वामी विवेकानन्द जी इस कसौटी पर पूर्णत: खरे उतरते हैं । उन्होंने भारतवर्ष को भी चेतावनी दी कि हमारे पतन का कारण यह रहा है कि हमने संसार के दूसरे राष्ट्रों से अपने आपको विच्छिन्न कर लिया था, इस रोग को दूर करने का एक-मात्र रास्ता है अन्य राष्टों की धारा में पुन: अपने को ले आना । गति ही जीवन की पहचान है ।

विश्व को स्वामीजी का यह सन्देश बड़ा सार्थक है – 'सहायता करो, लड़ो मत' और मैं विनयपूर्वक इसमें इतना जोड़ना चाहता हूँ कि किसी पर बिगड़ो मत, किसी से बिगड़ो मत और किसी का बिगाड़ो मत । मतभेद और कलह के बीच दम तोड़ती मानवता के लिए यही स्वामीजी की देन है । उनकी आवाज जो आज भी आकाश में गूँज रही है कि मनुष्य-मनुष्य का भाई कब होगा, इंसान बनो, इंसान के बनो, इंसान के लिए जियो और इंसान बनकर जियो । और अन्त में –

तुम सबसे आगे थे पैर दुखाने में
तुम सबसे पीछे थे पैर पुजाने में ।
तुम सबसे ऊँचे थे व्योम को झुकाने में ।
तुम सबसे नीचे थे ....

❑❑❑

(संकलक – चन्द्रकुमार और सन्नू, विवेकानन्द विद्यार्थी भवन, रायपुर)